सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कं कः ।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

विक्रम निबन्ध संग्रह

२०वीं

कानपुर विक्रमशताब्दि पर संगृहीत

प्रकाशक तथा संग्रहकर्त्ता

हिन्दू संघ, कानपुर

विषय-सूची

चित्र-सूची

विक्रम द्विसहस्राब्दि महोत्सव, कानपुरः—

श्री के० एम० मुंशी के स्टेशन स्वागत का एक दृश्य

विक्रम द्विसहस्त्राब्दि महोत्सव, कानपुर :—

विक्रमोत्सव के स्वागताध्यक्ष, हिन्दूसंघ के सभापति सर पद्मपति सिंहानियाँ, मनोनीत अध्यक्ष श्री के० एम० मुंशी के साथ ऐतिहासिक 'विश्वेश्वर' मन्दिर के 'भुवनेश्वर' द्वार के अनुरूप बनाये गये प्रवेश द्वार से पंडाल में पधार रहे हैं।

हिन्दू-संघ द्वारा आयोजित
विक्रम द्विसहस्राब्दि महोत्सव
का
संक्षिप्त विवरण

जीवित जाति के जीवन का एक लक्षण यह है कि वह अपने भूत काल के प्रति वैसा ही सजग हो जैसी अपने वर्तमान और भविष्य के प्रति है। जिसे अपने भूत का ज्ञान नहीं है, अपने उज्ज्वल भूत के प्रति श्रद्धा और विश्वास नहीं है, उस पर आस्था और अभिमान नहीं है उसका वर्तमान तथा भविष्य दोनों ही अन्धकारमय समझिये। यह भूत ही है जो वर्तमान और भविष्य का आधार-स्तम्भ, जन्म-दाता तथा निर्माता है। यह भूत ही है जो वर्तमान में हमारा पथ-प्रदर्शन करता है तथा भविष्य के सुख-स्वप्नों को सत्य करने के लिये हम में विश्वास और शक्ति का संचार करता है। यही कारण है कि जीवित जातियाँ और राष्ट्र अपने भूत पर गर्व करते हैं। समय समय पर उसके संस्मरण में बड़े बड़े समारोह करते हैं और अतीत के उन आग्नेय-शक्ति पुञ्जों से उत्प्राणित होकर जीवन संग्राम में नई आशा, नई शक्ति तथा नये विश्वास से आगे बढ़ते हैं।

कुछ ऐसी ही बातें लक्ष्य में रखकर हिन्दू समाज आज दो सहस्र वर्षों के बाद भी अपने उज्ज्वलतम अतीत के प्रतीक सम्राट् विक्रमादित्य की बीसवीं शताब्दि मनाने का आयोजन कर रही है। सम्राट् विक्रमादित्य का नाम हिन्दुओं को उस समय का स्मरण दिलाता है जब हमारी भाषा, हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता उच्चता के शिखर पर थी। जब यहाँ सुख समृद्धि की वर्षा हो रही थी। ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल में चौमुखी उन्नति हो रही थी। अपनी भूमि थी, अपना राज्य था। अपना राजा था। अपनी प्रजा थी। हमारी राष्ट्रीय पताका के सामने बड़े बड़े सम्राट सिर झुकाते थे। कैसे थे अपने वे दिन। एक ये दिन हैं। न अपनी भाषा है न अपनी भूषा, न अपना साहित्य है न अपनी संस्कृति। जो कुछ उज्जवल था सब नष्ट हो चुका है, सब खो चुका है। परतंत्रता के बन्धन में जकड़े हुये और लुटे हुये पड़े हैं। पर इस गिरे समय में भी सम्राट् विक्रमादित्य सरीखे महाप्राण पूर्वजों के नाम पर आज भी हम संसार की जातियों में गर्व से सिर ऊँचा करके खड़े हैं; जीवित हैं।

गत दो तीन वर्षों से विक्रम द्विसहस्राब्दि मनाने का आन्दोलन देश में चल रहा है। गत वर्ष कानपुर में होने वाले अखिल भारतीय हिन्दू महासभा के अधिवेशन में भी इस आशय का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था। उसी को दृष्टि में रख कर कानपुर के "हिन्दू संघ" ने अपने नगर में इस महोत्सव को अगहन सुदी १३ से पूष बदी एकम सम्वत् २०००, अर्थात् ता० ६ से १२ दिसम्बर सन् १९४३ तक करने का निश्चय किया।

इस महा समारोह का सभापतित्व गुजराती तथा अंग्रेजी साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान, सिद्धहस्त लेखक, कुशल वाग्मी, सफल विधानवेत्ता तथा बम्बई प्रान्त के भूतपूर्व गृह मंत्री श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने किया था। समारोह में भाग लेने के लिये लखनऊ, प्रयाग, काशी तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पधारे थे। प्रयाग, लखनऊ और जयपुर के सरकारी अजायब-घरों के अध्यक्षों ने तथा हिन्दी और संस्कृत के प्रेमी विद्वान, युक्त प्रान्तीय सरकार के सलाहकार ने इसमें पढ़ने के लिये अपने गवेषणात्मक लेख भेजे थे। अखिल भारतीय पुरातत्व-विभाग के डाइरेक्टर जनरल राव बहादुर के० एन० दीक्षित ने स्वयं पधार कर मैजिक लालटेन द्वारा उपलब्ध प्राचीन भग्नावशेष मंदिर, नगर, विश्वविद्यालय आदि पर शिक्षाप्रद और सारगर्भित व्याख्यान दिया था। इस समा-रोह को अधिक शिक्षाप्रद तथा आकर्षक बनाने के लिये इसमें एक ऐसी प्रदर्शिनी का आयोजन किया गया था जिसमें अधिक से अधिक प्राचीन वस्तुओं का संग्रह था। एक कवि सम्मेलन का भी आयोजन किया गया था जिसका सभापतित्व अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वर्तमान सभापति तथा "कर्मवीर" के सुयोग्य सम्पादक श्री माखन लाल जी चतुर्वेदी ने किया था। इस महोत्सव की एक विशेषता यह थी कि इसमें महाकवि कालिदास विरचित "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" का अभिनय संस्कृत में किया गया था, जिसे काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के "संस्कृत छात्रावास" के विद्यार्थियों ने किया था। कानपुर में अपने ढंग का यह प्रथम ही प्रयत्न था। अभिनय की भाषा संस्कृत थी, अभिनय करने वाले भी कोई नाट्यकला के अभ्यासी प्रदर्शक व्यक्ति न थे फिर भी यह अभिनय इतना सफल रहा कि देखने सुनने वाले सभी दंग थे।

यह समारोह स्थानीय श्री गुरुनारायण खत्री स्कूल के मैदान पर किया गया था। वह स्थान कानपुर में सर्वोत्तम तो है ही, पर उसकी सजावट जिस कलापूर्ण ढंग से की गई थी उसने सोने में सुगन्ध कर रक्खी थी। सिंहद्वार 'सांची' के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक द्वार के अनुरूप बनाया गया था तथा सभा-स्थल का द्वार

उड़ीसा के ऐतिहासिक "विश्वेश्वर मंदिर के भुवनेश्वर द्वार" के सदृश्य बनाया गया था। दोनों ही द्वार प्रचीन कला के प्रतीक के रूप में वहाँ विद्यमान थे। उन पर बिजली की बत्तियाँ जड़ी हुई थीं। पण्डाल के भीतर व बाहर बिजली की बत्तियाँ तथा बड़े बड़े विद्युतधारा प्रवाहिक जगमगा रहे थे।

कानपुर में यह समारोह अपने ढंग का अनोखा था। लोगों को इसकी सफलता पर कुछ आश्चर्य भी है। मैंने लखनऊ, प्रयाग तथा काशी के कुछ लोगों को यह कहते सुना है कि कानपुर व्यापारिक नगर है, वह इस प्रकार के सांस्कृतिक और सामाजिक कार्य्यों के उपयुक्त नहीं है। पर उन्हें भी इस समारोह को देखकर अपनी सम्मति में सुधार करना पड़ा है।

इस समारोह में जिन विद्वानों ने पधार कर और जिन्होंने निबन्ध भेजकर भाग लिया था उनके नाम तथ विषय निम्नलिखित थे।

पधारने वाले विद्वान व उनके भाषणों की सूची

१—डा० राधाकुमुद मुकर्जी, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्व-विद्यालय—"चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय के समय की भारतीय सभ्यता"।

२—डा० रमाशंकर त्रिपाठी, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, हिन्दू विश्वविद्यलय, काशी—"मेहरौली के लौह स्तम्भ का चन्द्र"।

३—डा० अवधेश नारायण सिंह, अध्यक्ष, गणित विभाग, लखनऊ विश्व-विद्यालय—"हिन्दू रेखागणित"।

४—मुनि श्री जिनविजय जी, भारत विद्या भवन, बम्बई—"प्राचीन भारत की आध्यात्मिकता"।

५—प्रो० परमात्मा शरण जी, इतिहास विभाग, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी—"अर्वाचीन भारतीय सभ्यता"।

६—श्री बैजनाथ पुरी, लखनऊ—"यूनान और प्राचीन भारत का सम्बन्ध"।

७—श्री प्रकाश चन्द्र वर्मा, कानपुर—"प्राचीन पञ्चमार्का सिक्के"।

अन्य पधारने वाले विद्वान

८—डा० डी० सी० सरकार, कलकत्ता विश्वविद्यालय।

९—प्रो० विश्वेश्वर प्रसाद, प्रयाग विश्वविद्यालय।

१०—प्रो० धूर्जटि प्रसाद मुकर्जी, लखनऊ विश्वविद्यालय।

११—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, अध्यक्ष, प्रान्तीय म्यूज़ियम, लखनऊ।

१२—श्री अजित प्रसाद जी जैन, लखनऊ।

उत्सव में लेख भेजने वालों के नाम व उनके विषय

१—डा० ए० एस० अल्टेकर, अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास व संस्कृति विभाग, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी—"हिन्दू-धर्म व शुद्धि" व "विक्रम सम्वत्सर"।

२—श्री ए० जी० शिरफ़, एडवाइज़र, यू० पी० गवर्नर, लखनऊ—"महाकवि जायसी का जन्म स्थान"।

३—महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र, प्रयाग विश्वविद्यालय—"प्राचीन भारत में शल्य चिकित्सा"।

४—बौद्ध भिक्षु धर्मानन्द जी, महाबोधि आश्रम, सारनाथ-काशी—"सिंहल साहित्य में कालिदास"।

५—महामहोपाध्याय पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ, अध्यक्ष, पुरातत्व विभाग, जोधपुर—"विक्रमादित्य और विक्रम सम्वत्"।

६—प्रो० डा० हरिश्चन्द्र सेठ, अमरावती—'विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता'।

७—ज्योतिषाचार्य श्री षडानन झा, राज्य-ज्योतिषी, गिद्धौर राज्य, बिहार—"पञ्चाङ्ग परामर्श"।

८—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, अध्यक्ष, प्रान्तीय म्यूज़ियम, लखनऊ—"भारतीय विक्रम का महाकोष"।

९—श्री पं० केदारनाथ शर्मा साहित्याचार्य, सम्पादक "सुप्रभातम्", काशी—"कविकुल गुरु कालिदास"।

प्रदर्शिनी में जो वस्तुयें संग्रहीत थीं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं:—

१—सोना, चाँदी तथा ताँबा के गुप्त कालीन सिक्के, २—उनमें से कुछ सिक्कों के फ़ोटो द्वारा लिये गये विषद चित्र, (एनलार्जमेण्ट), ३—बहुमूल्य वस्तुओं के तौलने के स्फटिक के अत्यन्त प्राचीन बाँट, ४—स्फटिक की गुरियाँ, ५—पुरातत्व विभाग द्वारा अनुसंधान किये गये स्थानों के चित्र, ६—समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त के शिलालेखों की प्रतिलिपियाँ, ७—गुप्त वंश का वंश-वृक्ष, ८—गुप्त कालीन मृण्मूर्तियाँ, ९—भारत-कला-भवन, काशी तथा प्रयाग म्युज़ियम द्वारा प्राप्त अर्वाचीन मृण्मूर्तियाँ तथा चित्र, १०—गुप्त कालीन लिपि, तथा ११—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा समुद्रगुप्त के कीर्ति स्तम्भों के लेख व उनके अनुवाद।

महोत्सव पर आये हुये लेखों का संग्रह, उत्सव के विवरण के साथ प्रकाशित करने का विचार था। यह संग्रह उसी का फल है।

महोत्सव पर देश के नेताओं तथा महान विभूतियों के सन्देश भी प्राप्त हुये थे जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं।

महोत्सव के लिये सन्देश

१—महामना श्री पं० मदनमोहन मालवीय, काशी—"मुझे यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई है कि प्रतापी सम्राट् विक्रमादित्य के नाम से प्रचलित सम्वत्-सर के २००० वर्षों की पूर्ति पर हमारे देश के विभिन्न स्थानों में उनकी स्मृति में महोत्सव मनाये जा रहे हैं। मुझे दुख है कि स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण मैं स्वयं हिन्दू-संघ कानपुर द्वारा आयोजित महोत्सव में सम्मिलित न हो सकूँगा। आधुनिक रुचि के अनुसार विक्रम की विशद जीवन गाथा अभी लिखने को शेष है। किन्तु उनका महान कार्य तब तक हमारे सामने है। एक ऐसे समय में जब जनता स्फूर्ति-विहीन हो रही थी उन्होंने नव जीवन का संचार किया। असंगठित और अस्तव्यस्त जनता को संगठित कर अपने नेतृत्व में विकट आपत्तियों पर विजय प्राप्त करते हुये उसने शकों को बाहर निकाल दिया। निःसन्देह उसके सैनिक कार्य महान् थे, किन्तु उससे भी अधिक थे उसके वे सफल प्रयत्न, जो उसने देश की सभ्यता व संस्कृति को दृढ़ बनाने व विकसित करने के लिये किये थे। उसका धन उसकी प्रजा के लिये था। वह शिक्षा व ज्ञान का महान पोषक व संरक्षक था। और यह आश्चर्य की बात नहीं कि उसके इन्हीं गुणों के कारण ही जनता ने उसके नाम का सम्वत् चला कर उसे सम्मानित किया। विक्रमादित्य कितना जन प्रिय था यह निम्नलिखित कहावत से ही प्रकट होता है जो उसकी सर्वप्रियता के कारण अन्य शासकों के लिये अनुकरणीय हो गया था :—

येहि सिंहासन बैठे सोय। जो राजा विक्रम सम होय॥

उसके महान् कार्यों की स्मृति से हममें अपनी स्वाधीनता की प्राप्ति के प्रति प्रयत्नशील होने की स्फूर्ति आनी चाहिये। हमें अपने विक्रम कालीन स्वर्णयुग के अतीत गौरव पर एक दृष्टि डालनी चाहिये और उसकी तुलना आजकल की गिरी हुई दशा से करनी चाहिये। इस अवसर पर हमें इस बात का प्रण करना चाहिये कि हम अपनी प्राचीन शक्ति, सभ्यता व समृद्धि को पुनः लाने के लिये यथाशक्ति सतत् प्रयत्नशील रहेंगे।

२—माननीय श्री माधव श्रीहरि अणे, प्रतिनिधि, भारत सरकार, लंका—"मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि कानपुर का हिन्दू-संघ, मेरे माननीय मित्र श्री के० एम० मुन्शी के सभापतित्व में ९, १०, ११ तथा १२ दिसम्बर को विक्रम द्विसहस्राब्दि महोत्सव मनाने जा रहा है। श्री विक्रमादित्य भारतवर्ष के उस काल की महान् विभूति थे, जिसे इतिहासज्ञ यथार्थतः स्वर्णयुग के नाम से पुकारते हैं। वे शिक्षा व संस्कृति के महान् संरक्षक व हिन्दू सम्वत्सर के प्रचारक

थे। वे भारतीय एकता तथा भारतीय संस्कृति व राजनीति के सर्वोच्च आदर्शों के प्रतीक थे। मेरे विचार में विक्रमादित्य के २०००-वें सम्वत् के उत्सव का समय भारत के उन समस्त दार्शनिकों, राजनीतिज्ञों, कवियों, कलाविदों, राजाओं व योद्धाओं के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने का समय है, जिन्होंने भारतवर्ष की समृद्धि तथा उसके उत्थान में भाग लिया है। इसलिये यह राष्ट्रीय घटना उन लोगों के लिये विशेष महत्व की वस्तु है जो भारतीय संस्कृति, भारतीय राष्ट्रीयता, भारतीय एकता, तथा भारत के अतीत गौरव के प्रति कुछ भी सम्मान रखते हैं। विक्रम सम्वत् के २०००-वें वर्ष के इस महान् उत्सव में मैं आप लोगों के साथ उस प्रतापी सम्राट विक्रमादित्य के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ"।

३—महा माननीय सर तेज बहादुर सप्रू—"मुझे दुःख है कि इस महोत्सव में अपने पुत्र की बीमारी के कारण मैं स्वयं उपस्थित न हो सकूँगा। मुझे विश्वास है कि मेरी परवशता देखते हुये आप मुझे क्षमा करेंगे। सम्राट विक्रमादित्य के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना हम सबका कर्तव्य है और मैं आपके महोत्सव की हार्दिक शुभकामना चाहता हूँ"।

४—महामाननीय डा० मुकुन्दराव जयकर—"विक्रम द्विसहस्राब्दि समारोह के निमंत्रण के लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मैं उत्सव में अवश्य सम्मिलित होता किन्तु दुःख है कि उन्हीं तारीखों में अन्यत्र होने के कारण न आ सकूँगा। इसलिये मैं आपके इस महोत्सव की पूर्ण सफलता के लिये अपनी हार्दिक शुभ कामनाओं का यह संदेश भेज रहा हूँ। हिन्दू सभ्यता को गौरव के शिखर पर पहुँचाने में सम्राट् विक्रमादित्य का विशेष स्थान है और उनकी स्मृति में यह उत्सव मना कर हिन्दू-संघ ने प्रशंसनीय कार्य किया है"।

५—वीर विनायक दामोदर सावरकर, बम्बई—"विक्रम द्विसहस्राब्दि महोत्सव के निमंत्रण के लिये धन्यवाद। जैसा कि आपको विदित है, बुख़ार से पीड़ित होने के कारण मैं चारपाई पर पड़ा हूँ और सम्मिलित होने में असमर्थ हूँ। सम्राट विक्रमादित्य की स्मृति में होने वाले इस महोत्सव के साथ मेरी पूर्ण सहानुभूति है और मैं उत्सव की सफलता चाहता हूँ। हिन्दू-संघ, कानपुर की मैं सदैव प्रशंसा किया करता हूँ क्योंकि वह सदैव हिन्दू हित कार्य्यों में संलग्न रहता है"।

६—डा० सर एस० राधाकृष्णन्, काशी,—"मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि आप कानपुर में विक्रम द्विसहस्राब्दि महोत्सव मनाने जा रहे हैं। यह सर्वथा उचित व श्रेयष्कर है कि देश के समस्त बड़े बड़े केन्द्र ऐसे महोत्सवों को

मनावें जो भारतीय सभ्यता तथा उसकी अर्वाचीन महत्ता की स्मृति हमें दिला सकें। मैं उत्सव की पूर्ण सफलता चाहता हूँ"।

७—डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी, कलकत्ता—"विक्रम द्विसहस्राब्दि महोत्सव के आयोजन का मैं हार्दिक स्वागत करता हूँ। आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व होने वाले प्रतापी हिन्दू सम्राट विक्रमादित्य के प्रति श्रद्धा अर्पित करते हुये हम उस महान् पराक्रमी व शौर्यशाली योद्धा की पूजा कर रहे हैं जिसने विदेशी आक्रमणकारियों को देश से बाहर निकाल कर हिन्दू संस्कृति व हिन्दू सभ्यता को उन्नति के शिखर पर पहुँचाया था। आज जबकि मातृभूमि के विच्छेद की समस्यायें हमारे सामने हैं आप ऐसे योद्धा की स्मृति मना कर देश की सच्ची सेवा कर रहे हैं"।

८—राजा सर महराजसिंह, लखनऊ—"यह सर्वथा में उचित ही है कि सम्राट विक्रमादित्य के नाम व ख्याति की यादगार मनाई जावें क्योंकि वे एशिया के महान् सम्राटों में एक थे। उनके समय में न्याय व शासन दया से परिपूर्ण था। सार्वजनिक शान्ति व सर्वव्यापी समृद्धि विद्यमान थी। वह सम्राट प्रशंसनीय है जिसने अपनी प्रजा के लिये इतना किया और हम सब भाग्यवान हैं जो उन्हें अपना समझते हैं। मैं उत्सव की पूर्ण सफलता चाहता हूँ"।

९—श्री नलिनी रंजन सरकार, कलकत्ता—"मुझे प्रसन्नता है कि कानपुर हिन्दू-संघ विक्रम के दो हजारवें सम्वत् का उत्सव मनाने जा रहा है। मैं उसके प्रबन्धकों को उसकी सफलता के लिये हार्दिक शुभ कामनायें भेजता हूँ। दो हजार वर्ष के इस बड़े समय में हिन्दुत्व कई एक घटनाओं में गुजर चुका है। किन्तु अपनी अन्तर्निहित शक्ति व विशालता के कारण ही वह समस्त आपदाओं का सामना करता हुआ आज भी एक जीवित शक्ति के रूप में विद्यमान है। मुझे दुःख है कि मैं महोत्सव सम्बन्धी समस्त सांस्कृतिक कार्यक्रमों में स्वयं सम्मिलित नहीं हो सकता। मैं महोत्सव की हार्दिक सफलता चाहता हूँ"।

१०—डा० सर रघुनाथ पुरुषोत्तम पराञ्जपे, पूना—"विक्रम द्विसहस्राब्दि महोत्सव के निमंत्रण के लिये मैं आपका अनुग्रहीत हूँ। मुझे दुःख है कि मैं उपस्थित न हो सकूँगा। मुझे विश्वास है कि हिन्दू-संघ द्वारा आयोजित यह उत्सव अवश्य सफल होगा। भारत के इतिहास में यह घटना अद्वितीय है और सम्राट् विक्रमादित्य का संस्मरण प्रत्येक भारतीय का परम कर्तव्य है"!

११—डा० भगवान दास, काशी—"रोग-ग्रस्त होने के कारण मुझे खेद है, मैं महोत्सव में स्वयं सम्मिलित नहीं हो सकता। किन्तु मेरी भावनायें आपके साथ हैं। मैं उत्सव की पूर्ण सफलता चाहता हूँ"।

१२—भाई परमानन्द जी, लाहौर—"विदेशी आक्रमणकारी हूणों को वीर विक्रम ने मंदासोर के क्षेत्र में मार भगाया जिन्होंने योरुप के शक्तिशाली राज्यों को पदाक्रान्त कर दिया था। ऐसे वीर की पुण्य स्मृति मनाना हम सब का कर्तव्य है, जिससे हमारे अन्दर शक्ति की भावना एक बार संचार करने लगें"।

१३—डा० सर गोकुल चन्द नारंग, लाहौर—"मैं महोत्सव की पूर्ण सफलता चाहता हूँ। प्रतापी सम्राट् विक्रमादित्य पर हिन्दू जाति को गर्व है। वह केवल शासक ही न थे किन्तु साधु भी थे और उन्हें राजर्षि कहना ही उचित होगा। उनकी स्मृति मनाना हम सब का परम कर्तव्य है"।

१४—रा० ब० मेहर चन्द खन्ना, पेशावर—"मैं हिन्दू-संघ, कानपुर के इस महान् राष्ट्रीय महोत्सव के आयोजन पर हार्दिक बधाइयाँ प्रेषित करता हूँ। आज हम हिन्दू विषम परिस्थितियों से गुजर रहे हैं। राष्ट्र विरोधी व प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ हमारे विरुद्ध कार्यशील हैं और जब तक हम हिन्दू भेद-भाव भुलाकर कन्धे से कन्धा मिला कर अपनी मातृभूमि की रक्षा व अखण्डता के लिये प्रयत्न-शील नहीं होते हमारा भविष्य अँधेरे में है। हमारे लिये यदि भारत खो गया तो सर्वस्व खो गया। जो हिन्दू राज, मुस्लिम राज या सिक्ख राज के लिये चिल्लाते हैं वे देश के शत्रु हैं। हम आजाद हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानी राज चाहते हैं और इसी में हिन्दुओं का बड़प्पन है। मैं उत्सव की पूर्ण सफलता चाहता हूँ"।

इनके अतिरिक्त सर जदुनाथ सरकार (कलकत्ता), डा० पी० वरद राजलु नायडू (मद्रास), श्री श्रीप्रकाश (काशी), माननीय सर जे० पी० श्रीवास्तव, इत्यादि महानुभावों के भी उत्सव की सफलता के संदेश प्राप्त हुए थे।

विक्रम समारोह जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये कैसे विशाल आयोजन की आवश्यकता है तथा अपनी शक्तियाँ कितनी सीमित हैं इससे हम अनभिज्ञ नहीं थे, फिर भी इस दुर्वह कार्य का भार उठाने का जो साहस हमने किया वह केवल जनता की उदार हृदयता तथा सम्राट् विक्रमादित्य के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा के बल पर ही था। महोत्सव के अध्यक्ष तथा उसमें सम्मिलित होने वाली विद्वन्मण्डली के आकर्षण का भी हमें प्रोत्साहित करने में कम हाथ न था। इसलिये समारोह की जो कुछ भी सफलता है उसका कुल श्रेय जनता और विद्वन्मण्डली को ही है। त्रुटियों और दोषों के बोझ से दबा हुआ हमारा मस्तक उनके सामने नत है।

श्री गुरुनारायन खत्री हाई स्कूल क मुख्याध्यापक श्री अमीरचन्द जी, रा० ब० भगवानदास जी तथा लक्ष्मीरतन काटन मिल्स और इण्डिया सलाई के

विक्रम द्विसहस्राब्दि महोत्सव, कानपुर :—

विक्रम समारोह का सिंहद्वार जो कि सुप्रसिद्ध 'साँची' द्वार के अनुरूप बनाया गया था

विक्रम द्विसहस्राब्दि महोत्सव, कानपुर :—

अध्यक्ष

श्री के० एम० मुंशी

स्वागताध्यक्ष

सर पद्मपति सिंहानिया

स्वामियोंको मैं किन शब्दोंमें धन्यवाद दूँ जिन्होंने स्कूलकी भूमि, उसके भवन, शामियाने, तम्बू, बिजलीकी सजावटका कुल सामान, मिस्त्री और इन्जीनियर आदि देकर महोत्सवको सम्पन्न करनेमें सहायता दी थी। म्युनिसिपल बोर्डकी शिक्षा समितिके प्रधान बा० द्वारकाप्रसाद सिंह, क्राइस्ट चर्च कालेज तथा डी० ए० वी० कालेजके प्रिंसिपल महोदयों और यू० पी० किराना सेवा समितिके भी हम विशेष आभारी हैं। एकने तख्त, दूसरेने मैजिक लालटेन, तीसरेने बेंचे और चौथेने दरियाँ आदि देकर समारोहको सफल बनाया है। काशी विश्वविद्यालयके संस्कृत छात्रावासके विद्यार्थियों से उऋण हो सकना तो असम्भव ही है, जिन्होंने एकमात्र संस्कृतके प्रचारकी भावनासे इतनी दूरसे आकर, विकट जाड़ेमें भी, "अभिज्ञान शाकुन्तलम्"का अभिनय करके कानपुरकी जनताका मनोरंजन किया था। उस छोटीसी प्रदर्शिनीको सजानेके लिये जिन महानुभावोंने अपनी वस्तुयें भेजी थीं उनकेभी हम कृतज्ञ हैं। विशेष करके श्रीबृजमोहनजी व्यास तथा भारतीय कला-भवनके सर्वस्व श्रीरायकृष्णदासजीके हम बहुत ही अनुगृहीत हैं जिन्होंने अलभ्य और बहुमूल्य वस्तुयें भेजी थीं। कानपुरकी जनता जिनकी सूक्तियों पर मंत्र-मुग्ध सी जाड़ेकी उस रातमें भी घण्टों बैठी रही, उन कवियोंको हम किन शब्दोंमें धन्य-वाद दें। उत्सवके अन्तिम कार्यक्रम "कवि सम्मेलन"की सफलताका एक मात्र श्रेय उसके सभापति और उनकोही है। स्थानीय तथा बाहरके समाचार पत्रों तथा उनके सम्वाददाताओंने महीनों पहलेसे समारोहकी सफलताके लिये जो प्रयत्न किये, जो प्रचार किया, उसके लिये हम उनके आभारी हैं और रहेंगे।

इन सबको धन्यवाद देते समय मैं श्री पं० लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी, श्रीविश्वम्भर-नाथजी शर्मा "कौशिक", श्री बा० तुलसीरामजी गुप्त आदि महानुभावों और हिन्दू-संघके अपने साथी कार्यकर्ताओंको कैसे भूल सकता हूँ जिन्होंने रात-दिन एक करके समारोहको सफल करनेके प्रयत्न किये थे। उनकी कठिनाइयों और उनके परिश्रमको मैं जानता हूँ। उनको धन्यवाद देनेके लिये मेरे पास शब्द नहीं हैं। और सचतो यह है कि उनको शब्दोंमें धन्यवाद दे सकना अशक्य है। यह जो कुछ चार दिनों तक होता रहा वह सब उन्हींके परिश्रम का सुफल था।

एक निवेदन और है। महोत्सवके अध्यक्ष श्री मुन्शीजीका प्रौढ़ और प्राञ्जल अंग्रेजीमें लिखा भाषण हमें ता० ६ दिसम्बरकी सायंकालको मिला था। उत्सव ९ दिसम्बरको था। इतने थोड़े समयमें उसका अनुवाद करके प्रकाशित कर सकना सम्भव नहीं था, इसीसे उस समय हम उसे हिन्दीमें छपवाकर वितरित नहीं कर सके थे। हमें इसका दुःख था और है पर लाचारी थी। आज वह अभिभाषण अगले पृष्ठों में प्रकाशित करते हुये हमें प्रसन्नता हो रही है।

भूदेव विद्यालंकार
मंत्री, हिन्दू-संघ

विक्रमादित्य हमारा अग्निस्तम्भ

विक्रम द्विसहस्राब्दि महोत्सवके अवसर पर अध्यक्षपदसे दिया गया

श्री के० एम० मुन्शीका अभिभाषण

भारतके राष्ट्रीय योद्धा-नायक विक्रमादित्यके सम्मानमें इस नगरके मनाये जाने वाले द्विसहस्राब्दिक महोत्सवमें मुझे सभापति बनाकर आपने जो मेरा आदर किया है उसके लिये मैं आपको धन्यवाद देता हूँ।

कौन विक्रमादित्य, विक्रमादित्य था, मैं इस विवादमें पड़ना नहीं चाहता हूँ। मैं इस प्रश्नको भी विद्वानोंके लिये ही छोड़ता हूँ कि क्या ये वही विक्रमादित्य हैं जिन्होंने दो सहस्र वर्ष पूर्व असभ्य जातियोंसे आर्य्यावर्तकी रक्षा की थी, तथा डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्व छत्रियोंका समूल नाश किया था। मेरे लिये, आपके लिये और सम्पूर्ण भारतवर्षके लिये विक्रमादित्य एक मृत विजेता नहीं हैं, अपितु एक जीवित राष्ट्रीय योद्धा हैं। उनके जीवनमें हमारा जीवन है और हमारे जीवनमें उनका जीवन है। कालिदास के मित्र और नवरत्नोंके उस संरक्षकके विषयमें किसने नहीं सुना और किसने उसकी प्रशंसा नहीं की। विगत कई शताब्दियोंसे भारतका ऐसा कौन-सा बच्चा है जिसकी विकासोन्मुख कल्पनाओंमें बेतालका वह मित्र चक्कर नहीं काटता रहा है जो अपने कन्धों पर ऐसा छायाशव लाया था जो बहुत वाचाल था और प्रत्येक प्रश्नका उत्तर माँगता था। ऐसा कौन-सा व्यक्ति है जिसे उन दिनोंके देखनेकी इच्छा न हो जब उनका वह वीर राजा उनके दुःखोंको जानने तथा दूर करनेके लिये छद्मवेशमें उनके नगरमें घूमता था। क्या हमारी संतानें एक बार फिर उस पर-दुःख-भंजनके दर्शनोंकी आशामें ही जीवित नहीं रहीं और हैं? हमारे ऐतिहासिक एवं पौराणिक वीरोंमें विक्रमादित्य ही मर्त्यलोक का एक ऐसा नायक वीर है जिसे लोकमतने राष्ट्रीय अमर लोकके देवताओं श्री रामचन्द्र और श्री कृष्णचन्द्रकी श्रेणी में स्थान दिया है।

यूरोपीय इतिहासके कैसर जार अथवा सीजरकी भाँति ही विक्रमादित्यका नाम भी हमारे इतिहासमें आकर्षण रखता है। महत्वाकांक्षी राजाओंने उसके नामसे बढ़कर अन्य किसी पदवीको धारण करनेकी इच्छा नहीं की। गुजरातके सिद्धराज जयसिंहकी भाँति अनेक शासक उसके पराक्रमका अनुकरण करनेमें ही अपने जीवनको खपा गये हैं। क्या दिल्लीके अन्तिम हिन्दू शासकके विक्रमादित्य

पढ़ने ही, उसे उस विदेशीसे जो मातृभूमिको दासताके बन्धनमें जकड़ना चाहता था, युद्ध करनेके लिये प्रोत्साहित नहीं किया था?

वह क्या बात है जिसके कारण इस द्विसहस्राब्दिके अवसर पर सम्पूर्ण भारतवर्ष राष्ट्रीय त्योहार मना रहा है? वह कौनसी भावना है जो हमें उस अविस्मरणीय वीरको पुनः दैवी श्रेणी में रखने के लिये प्रेरित कर रही है?

विदेशियोंकी दासताके बन्धनमें जकड़े हुये हम लोगोंके लिये विक्रमादित्य केवल एक ऐतिहासिक स्मृति अथवा एक गौरवशाली नाम मात्र ही नहीं है, प्रत्युत इससे कुछ अधिक है। वह भारतीय एकताका प्रतीक है, वह चक्रवर्ती हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओंका प्रतिनिधि है। हमारे लिये वह २००० वर्ष की राष्ट्रीय स्मृति, अतीतका गौरव, वर्तमानकी स्पृहा, भविष्यकी लालसा तथा राजनैतिक शक्तिकी महत्ता, राष्ट्रीय स्वाधीनता, सामाजिक एकता एवं सांस्कृतिक ऐश्वर्यका सम्मिश्रण है।

(१)

मैं क्षण भरके लिये आपका ध्यान उस उज्ज्वल जातीय स्मृतिकी ओर ले जाना चाहता हूँ जिसके कारण हममें विक्रमादित्यको देवताओंकी श्रेणीमें बैठानेकी भावना उत्पन्न होती है।

इतिहासके उषाकालमें संसारकी सभ्यताकी नींव सिन्धु और नर्वदाके तटों पर ही रखी गई थी। जब शेष संसार पाषाणकालसे कुछ ऊपर उठनेकी चेष्टा कर रहा था, उस समय हम नगर, राष्ट्र, व्यापारिक संगठन, कुम्भकारचक्र, शिल्पीकी छेनी, कलात्मक धातुविज्ञान, सुन्दर मुद्रा निर्माण, स्नानागार, सार्वजनिक-भवन, ज्यामिक्ति, नक्षत्रविद्या, मंत्रविज्ञा, लिपि-फलक आदिसे पूर्ण परिचित थे। हम लोगोंमें अम्बिका तथा पशुपति-शिवकी उपासना प्रचलित थी। हमारे जीवनका अविच्छिन्न सूत्र ६ सहस्र वर्ष पूर्व सिन्धुकी घाटीकी बालूमें दबी पड़ी रहने वाली पशुपतिकी प्रतिमासे प्रारम्भ होता है जिसका वैभवपूर्ण-रूप वर्तमान कालमें काश्मीरके अमरनाथमें, कुमारी अन्तरीपके रामेश्वरमें, तथा अन्य लाखों मन्दिरोंमें जहाँ देवाधिदेव महादेवको नन्दी प्रणाम कर रहा है, दिखाई देता है। सभ्यताकी उस ज्योतिको हमने सुमेरको दिया। सुमेरने वैबीलोनिया और सीरिया (यमन) को दिया और वहाँसे पश्चिम उसे ले गया।

आइये भारतकी ओर पुनः लौटें

हमारे जीवनमें पूर्णता आती गई, वैभव और उदारतामें भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। सरस्वती नदीके तट पर विश्वामित्र, वशिष्ठ, भृगु, अंगिरा आदि

धर्म संस्थापकोंके आश्रम सुशोभित थे। वहींसे आस्तिक पुरुषोंके उदात्त आचरणोंसे पवित्रकी हुई संस्कृतिकी किरणें चारों ओर विकसित हुईं। समय पलटा खाता है। दिवोदास सम्बरके दुर्गोंको नष्ट करता है। विश्वामित्र, वशिष्ठसे युद्ध करते हैं तथा विभिन्न जातियोंके संघर्षसे सांस्कृतिक आधार पर जातीय उच्चता एवं निम्नताका क्रम स्थापित होता है।

वर्णाश्रम धर्मकी इस अद्भुत सामाजिक व्यवस्थाने सम्प्रदायोंको अन्योन्याश्रित बना दिया। फौलादी ढाँचेने सामाजिक संगठन तथा स्वयं धर्मको भी साधा। हमें इस बातकी शिक्षा मिली है कि, यह सामाजिक व्यवस्था हमारे लिये कैसी थी, इसकी ओर हम आँखें बन्द किये रहें। यदि यह सामाजिक व्यवस्था न होती तो हम सांस्कृतिक सर्वनाशके उस मायावी आक्रमणका सामना न कर सकते, जिसे योरोप उन विजित जातियों पर करता है जिन्हें वह लूटना और गुलाम बनाना चाहता है।

परदा बदलता है

धर्म्मका नाश करने वालोंका, जिसने सबसे पहिले नाश किया, वह ऋषिपुत्र परशुराम आर्य्योंको नर्मदाकी ओर ले जाता है। विजयी वीरके पीछे पीछे ऋषिगण पहुँचते हैं और पूर्वमें बाराणसीसे लेकर दक्षिणमें भृगु कच्छ तक, दैवी सौंदर्य्यसे पूर्ण वेदमंत्रोंकी ध्वनिसे गूँज उठता है। परशुरामके नामसे सम्बन्ध इस संघर्ष द्वारा उस शक्ति एवं संस्कृतिके युगका प्रादुर्भाव होता है जिसने विदेशी लोगोंको एक संगठित समाजके रूपमें परिवर्तित कर दिया।

परदा फिर बदलता है

हम विश्वामित्रके पौत्र, तथा दुष्यन्तके पुत्र चक्रवर्ती भरतके नाम पर जिसके नाम पर इस भूमिका नाम भारतवर्ष पड़ा है, सबसे प्रथम एक अखिल भारतीय परम्पराका निर्माण करते हैं। कुरु पांचालके साम्राज्यकी स्थापना हस्तिनापुर या आसन्दिवातमें होती है, जो धीरे धीरे पेशावरके समीप तक्षशिलासे बंगालकी सीमा तक फैलता है। वहीं पर दो ऐसे महापुरुषोंका अवतार होता है जिनकी उपासना ईश्वरकी भाँति ही की जाती है। उनमें प्रथम, सिद्ध पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ व्यास हैं, जिन्होंने धर्मकी शिक्षा दी है और दूसरे हैं श्रीकृष्ण, जो प्रेमी हैं, राजनीतिज्ञ हैं एवं युद्धवीर हैं और जिनकी वन्दना भारत एक स्वरसे उस शक्तिके प्रतीकके रूपमें करता है जिसका उद्गम धर्मसे है। वह अवतीर्ण हुआ था धर्मद्रोहियोंका समूल नाश करनेके लिये। वह आया था धर्मकी पुनः स्थापना करनेके लिये। कुरुक्षेत्रमें युद्धमें कृष्णा नदीके उत्तरमें भारतके राजा लड़नेके लिये एकत्रित

होते हैं। इस महाभारतमें जिसमें श्रीकृष्ण धर्मका पक्ष लेते हैं, एक अखण्ड भारतकी भावनाका विकास होता है।

चक्रवर्तीकी भावनामें दो महत्वपूर्ण विचार निहित हैं। चक्रवर्ती भारतका आधीश्वर होता है और धर्मका पालक भी। इस प्रकार भारतमें आर्य विजेताका अर्थ आर्य्य-धर्म पालक अखण्ड भारतीय सम्राट्के रूपमें हो जाता है।

(२)

मगधका असुर राजा जरासंध कृष्ण द्वारा पराजित हुआ और उसका देश आर्यावर्तमें सम्मिलित हो गया। परन्तु पराजित मगधने अपने विजेताओं पर फिर विजय प्राप्तकी। इसके बाद शिशुनाग वंशी राजा (ईसासे लगभग ७०० वर्ष पूर्व) भारतके चक्रवर्ती राजा हुये हैं। बुद्धने धर्मका प्रतिनिधित्व करने वाले सार्वभौम व्यक्तित्वके भावको बहुत उन्नत किया, यद्यपि उनका प्रभाव कृष्णकी भाँति तनिकभी राजनीतिक शक्ति पर आश्रित न था। साम्राज्यवादी शक्तिके देश व्यापी रूपका निर्माण तब हुआ जब चक्रवर्ती मौर्य्य सम्राट् चन्द्रगुप्त (लगभग २५-३०१ ईसवी) तथा शक्तिशाली राजकीय सूत्रोंके शिल्पी कौटिल्य इस भावनाको मूर्तरूप प्रदान करनेके लिये मिले कि भारतवर्ष, जो सांस्कृतिक दृष्टिसे एक है, राजनैतिक दृष्टिसे भी एक है। परन्तु भारतका वह स्वप्न उस समय पूरा हुआ जब चन्द्रगुप्तके पौत्र अशोक पाटलिपुत्रकी गद्दी पर बैठे। शक्ति-चक्र और धर्म-चक्र दोनोंका संचालन एक ही हाथसे होता था। यह स्वप्न जो इतनी सुन्दरतासे पूरा हुआ था आगे चलकर हमारी प्राचीन संस्कृतिकी एक मूल भावना ही बन गया। हमारे राष्ट्रीय मस्तिष्कमें यह भावना बद्धमूल हो गई कि जीवनके अन्तिम लक्ष्य और उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये धर्मका गठबन्धन अखिल भारतीय राजनैतिक शक्तिसे होना आवश्यक है। इस समय राष्ट्रीय मस्तिष्क विक्रमादित्यके विचारको ग्रहण करनेके उपयुक्त हो गया।

शिशुनाग द्वारा स्थापित मगधका वैभव पूर्ण साम्राज्य ईसाके ७९ वर्ष पूर्व तक रहा। उसने भारतको सामाजिक संगठनकी एकता और सांस्कृतिक दृष्टि प्रदानकी। किन्तु मगधकी शक्तिका ह्रास हुआ। बख्तर, यवन, पह्लव, यूची आदि बर्बर जातियाँ भारतमें घुस आईं। इसके पश्चात इस वीर विक्रमादित्यका आगमन हुआ। उसके पराक्रमका विस्तृत विवरण हमें ज्ञात नहीं, परन्तु उसने उन बर्बर जातियोंको पूर्णरूपेण खदेड़ दिया, दमन किया और उनको आत्मसात कर लिया। यह एक महान कार्य था जो भारतके राष्ट्रीय मस्तिष्कमें अमर ज्वालाके अक्षरोंमें अंकित है।

परशुराम अवतारी पुरुष थे। उन्होंने धर्मके शत्रुओंका नाश किया। परन्तु वे अपनी उग्रताके कारण प्रिय न बन सके। श्रीकृष्णभी अवतारी पुरुष थे। उन्हों ने भी धर्मका पक्ष लिया था पर उनके सिर पर राजमुकुट नहीं था। अशोकने भी धर्मका पक्ष लिया परन्तु उन्हें एक सुरक्षित साम्राज्य पैतृक सम्पतिके रूपमें प्राप्त हुआ था। यह सौभाग्य केवल विक्रमादित्यको प्राप्त हुआ कि वे जनताके सर्वाधिक प्रिय पात्र अपनी मानवताके नाते बन सके। उन्होंने बर्बर जातियोंको मार भगाया और शक्तिशाली राजशक्तिकी स्थापनाकी। कला और साहित्यको प्रोत्साहित किया, धर्मकी रक्षाकी और सबसे अधिक उन्होंने पीड़ितों एवं सहायतार्थियोंका प्रतिपालन किया। उनमें परशुराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध और अशोककी उज्ज्वल स्मृतियों का अद्भुत सम्मिश्रण था। वे अपने मानवोचित अतएव प्रिय गुणोंके कारण हम लोगोंके अत्यधिक निकट हैं।

विक्रमादित्य तभीसे राष्ट्रके प्रिय बन गये।

(३)

मगध साम्राज्यके पश्चात् शातवाहनोंका साम्राज्य आया। बर्बरोंकी चढ़ाइयों के कारण आर्यावर्तका केन्द्र हटकर गोदावरी तट हो गया। गोदावरी तट पर स्थित पैठानसे, जो उस समय भारतकी राजधानी था, शातवाहनोंने धार्मिक युद्ध प्रारम्भ कर दिया। शातकर्णी प्रथमको भी, जो अपने वंशका संस्थापक था, मूल विक्रमादित्य माना जाता है। कुछभी हो उसमें विक्रमादित्यत्व पाया जाता है।

गौतमी पुत्र शातकर्णीने (लगभग १०६ से १३० ई०) द्वितीय परशुरामकी भाँति ही शक, यवन, पालव और क्षत्रियोंका संहार किया। वह आर्य धर्मकी प्रदीप्त तलवार था। उसकी निर्णयात्मक विजयोंने हमारी प्रगतिशील संस्कृतिमें एक नव-जीवन भर दिया। वे बर्बर जो इससे अबतक लड़ रहे थे शीघ्र ही इसके परम अनुयायी बन गये। (१३० से १५० ई०) विदेशी चष्टनका पुत्र रुद्रदमन धर्मका रक्षक बन गया। कुशाणका विजेता कनिष्क बौद्ध धर्मका अनुयायी था, और बौद्ध धर्मकी महायानशाखाका एशियामें प्रबल प्रचारक था। उसका पौत्र वासुदेव (लगभग १२५—१७५ ई०) शैव था एवं भारतीय संस्कृति का पोषक था।

मत्स्य पुराणके रचयिता जिसकी रचना सम्भवतः नासिकमें हुई थी, कुछ असन्तुष्ट दिखाई देते हैं। उन्होंने लिखा है कि तत्कालीन उत्तरके शासक क्रोधी और निन्द्यथे। पर वह मगधमें धार्मिक उत्थान पाता है। चन्द्रगुप्त प्रथम ३२० ई० में गुप्त साम्राज्यकी स्थापना करता है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक विजेता उसका पुत्र समुद्रगुप्त (३३०-३८० ई०) अपने तूफानी आक्रमणोंमें देशके अधिकांश राजाओंको

पराजित करता है, आर्यावर्तमें धर्मकी पुनः स्थापना करता है, अश्वमेध यज्ञ करता है और धर्मादित्यकी उपाधि धारण करता है। उसका छोटा पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३८०—४१५ ई०)—जो कुछ विद्वानोंकी दृष्टिमें मूल विक्रमादित्य है—पश्चिमी भारतको अपने राज्यमें मिलाता है और उज्जैनको राजधानी बनाता है। यही प्रसिद्ध मूल कालिदासका मित्र है। इसके शासनकालमें भारत उन्नतिके शिखर पर पहुँच जाता है। उसके पुत्र एवं पौत्र (४१५—४६७ ई०) साम्राज्यकी और धर्म की रक्षा करते हैं।

गुप्त साम्राज्यका काल भारतका स्वर्णयुग माना जाता है। जीवन और संस्कृति, विज्ञान और साहित्यका इस कालमें अभूतपूर्व विकास हुआ था। तत्कालीन शासन पद्धति जो वस्तुतः अंग्रेजोंके भारतमें आने तक रही, जीवनका एक अंग बन गई थी। स्मृतियाँ ही साधारण व्यवस्थाकी आधार थीं। भागवत् धर्म ही राष्ट्रीय धर्म था और पुराण ही सार्वभौमिक शिक्षाके साधन थे।

जिस वंशके सम्राटोंकी पाँच पीढ़ी धर्मकी रक्षक थीं उनमें विक्रमादित्य सर्व श्रेष्ट था। स्वतंत्र और शक्तिशाली तथा धर्म और संस्कृतिकी जन्म भूमि भारतका प्रतीक वही विक्रमादित्य था।

(४)

हूणोंके आक्रमण लगभग ४७५ ई० में प्रारम्भ हुये। लगभग ५०० ई० में तोरमाणने मालव पर अधिकार कर लिया। किन्तु ५३३ ई० के आसपास मालवा में एक शक्तिशाली योद्धा यशोधर्मनका उदय हुआ। उसने आर्यावर्तकी राष्ट्रीय शक्तियोंको एकत्रित करके हूणों का विनाश किया। जन्म भूमिके उद्धारक इस यशोधर्मनको ही बहुधा लोग विक्रमादित्य समझ बैठते हैं।

लगभग ५५० ई० में मौखरी वंशके ईषान बर्मनने कन्नौजमें राज्यशक्तिकी नींव डाली, जो कुछ ही दिनों बाद आर्यावर्तकी राजधानी बन गया। यह (कन्नौज) उसके पुत्रके हाथसे शीघ्र ही पुष्पभूति हर्षके हाथोंमें चला गया। हर्ष ६०६ ई० में कन्नौजके साम्राज्यकी गद्दी पर बैठा और उत्तरापथका सम्राट बन गया। शात-वाहनोंकी साम्राज्यवादी परम्पराको दक्षिण भारत अपनाये हुये था और वातापीके चालुक्य वंशीय पुलकेशीको ठीक ही "दक्षिणापथका सम्राट" कहा गया है। श्रीहर्ष, गुप्त सम्राटोंका सच्चा उत्तराधिकारी था। सहनशील, विद्वान, उज्ज्वल चरित्र एवं उच्च आदर्शोंसे युक्त हर्षने साम्राज्य को संस्कृति और शक्तिके उच्च शिखर पर पहुँचाया।

६४७ ई० में उसकी मृत्युके साथ ही राजनीतिक उथल पुथल प्रारम्भ होगई।

किन्तु ७०० ई० तक गुरजर देश प्रमुखता पा चुका था। इसकी लड़ाकू जातियाँ ५५० ई० से ही प्रतिहारोंके नेतृत्वमें आगे बढ़ती जा रही थीं।

लगभग ७३५ ई० में अरब लोग भारत पर सम्भवतः कच्छ या काठियावाड़ की ओरसे आक्रमण करते हैं। प्रतीहार वंशका नागभट्ट जो सम्भवतः श्रीमालमें शासन कर रहा था, अरबोंका डट कर मुक़ाबिला करता है और उन्हें पीछे खदेड़ कर उज्जैन पर आधिपत्य स्थापित करता है। वह अपनेको श्रीरामचन्द्रके भाई लक्ष्मणका वंशज कहता था। उसकी उपमा सृष्टि कालीन जलसे निकलते हुये नारायणसे दी गई है। उसके ऐतिहासिक प्रतिरोधने अरबोंकी बुद्धि ठिकाने कर दी और उन्हें अपना-सा मुँह लेकर लौट जाने पर बाध्य किया। उसके उत्तराधिकारियोंकी शक्ति बढ़ गई और उन्होंने कर्नाटकके राष्ट्रकेतु और बंगालके पालोंसे युद्ध किये। अन्तमें कन्नौज पर भी आधिपत्य जमा लिया। नागभट्ट द्वितीय (८००-८३० ई०) में तत्कालीन सबसे बड़ा सम्राट था।

उसका पौत्र मिहिरभोज जो सर्व कालीन श्रेष्ठ राजाओंमें से था और जिसकी ऐतिहासिक सामग्रीका संकलन आज तक भी हो रहा है, विक्रमादित्यका स्मरण दिला देता है। उसने गुरजर देशके साम्राज्यमें (८३६-८८८ ई०) तक शासन किया, सिन्ध पर अधिकार कर लिया और मुस्लिम धर्म ग्रहण करने वालोंको पुनः शुद्ध कर लिया। उसने मुसलमानी आक्रमणोंका प्रतिरोध करने वाले काबुलके ब्राह्मण वंशी शाही राजाको सहायता दी तथा दक्षिणके राष्ट्रकूटोंकी वृद्धिको रोका। उसके राज्यका विस्तार पंजाबसे लेकर पूर्वी बंगाल तक था। वह इक्ष्वाकुवंशी होनेका दावा करता था। वह धर्मका रक्षक था। श्रीरामका प्रतिद्वन्दी होनेके कारण उसकी गणना मनुष्योंमें न होकर देवतामें होती है। अरबके यात्री जूजरके इस बुराह (अर्थात् गुर्जरके आदि वाराह) की शक्तिकी साक्षी देते हैं। वे उसे अपने उग्र शत्रुके रूपमें वर्णन करते हैं। कवि राजशेखर द्वारा वर्णित वह अपने पुत्र महीपाल (९१४-९६४ ई०) की भाँति ही आर्यावर्तका महाराजाधिराज था।

इस कालके सम्बन्धमें हमारे ऐतिहासिकों को अभी बहुत खोज करनी है। लगभग २०० वर्षों तक भारतने अपनी श्रेष्ठ परम्पराओंका पुनरुत्थान देखा था। यह शंकर और वाचस्पति मिश्र, मेधातिथि और देवल तथा माघ और राजशेखर का समय था। जब सुबुक्तगीन तथा उसके पुत्र सुल्तान महमूद गज़नवीने जो इतिहासके दिग्गज सैनिकोंमें माना जाता है, भारत पर आक्रमण किया, तब अफ़गानिस्तान और पंजाबके ब्राह्मण वंशी शाही राजाओं—पिता-पुत्र और पौत्र—जयपाल, आनन्दपाल और त्रिलोचनपालने भारतीय द्वारोंके रक्षकके रूपमें विदेशी

आक्रमणोंका प्रतिरोध किया। अपने स्वाभिमान, अपने धर्म और अपनी जन्म-भूमिकी रक्षार्थ उन्होंने अपनेको मिटाकर अपूर्व त्याग तथा उच्चय आदर्श स्थापित किया। इन हत-भाग्य विक्रमादित्योंने जो अच्छे और उचित कार्य्योंके करनेमें कभीभी संकुचित नहीं होते थे, आदर्शकी गर्वित पताका अपमानित देशके ऊपर फहराई। तब कहीं २२ वर्षोंके बाद महमूद पंजाबमें पैर जमा सका। इसके बाद उसने १०२२ ई० में कन्नौजको घेरा और श्रीहर्षसे लेकर मिहिर भोज तक एकत्रित किये गये वैभव को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

विश्वाधिपति-देवकुलसम्भूत्—इक्ष्वाकुवंशीय रघुकुल-भू चक्रवर्तियों में एक नामधारी सम्राट्ने उस तुर्की आक्रामककी आधीनता स्वीकार करली और इसीलिये देशाभिमानी सामन्त विद्याधर चन्देलने (१००६-१०५० ई०) उसका बध कर दिया था, क्योंकि उसने अपनी शरीररक्षाके लिये अपना स्वाभिमान बेंच डालनेका अपराध किया था।

इस बीचमें गुर्जर देशके प्राचीन परमार सरदारोंका वंशज परम पराक्रमी भोज (१०१०-१०५४ ई०) एक महान् शासक बन चुका था। १०२४ ई० में जब महमूद गजनवीने गुजरात पर चढ़ाईकी, तब भोजने उसके प्रतिरोधके लिये एक सैनिक संघका नेतृत्व किया और सुल्तानको काठियावाड़में घेर लिया। सुल्तानको भारी क्षति उठाते हुये कच्छके उत्तप्त मरुप्रदेशसे होकर लौटनेके लिये विवश होना पड़ा। १०२० ई० से १०४४ ई० तक भोज भारतका सर्वश्रेष्ठ शक्तिशाली एवं यशस्वी सम्राट् था। यहाँ तककि उसके इन्हीं विक्रम समान गुणोंके कारण उसकी स्मृति तथा उसकी जीवन सम्बन्धी गाथायें विक्रमादित्यकी स्मृतियोंके साथ घुल-मिल गई हैं। वह कवि था, उच्च कल्पनाओंका निर्माता था, विद्याका संरक्षक, विजेता एवं दार्शनिक था। वस्तुतः वह राज सिंहासन पर बैठने वाले सर्व श्रेष्ठ सम्राटोंमें से एक था। उसके जीवनकालके सहयोगी तन्जौरके दो बड़े शासक राजेन्द्र और राजराजचोल थे, जिनके राज्यका विस्तार कृष्णा-नदीके दक्षिणका समस्त भाग तथा पूर्वीय समुद्रतट, लंका, जावा और सुमात्रा तक था।

(५)

११७५ ई० में मोहम्दगोरीके आक्रमणों एवं लूटमारोंके साथ साथ यह युग समाप्त हुआ। भारतीय शासक अभी तक धर्मानुमोदित रीतिसे युद्ध करते आरहे थे। तीर्थ स्थान, स्त्रियां, बच्चे, ब्राह्मण, गाय, यहाँ तक कि नगर और गांवभी युद्ध-क्षतिसे बचाये जाते थे। युद्धसे अन्यत्र कहीं भी शत्रुका बध नहीं होता था और उसकी स्त्रियां एवं बच्चे वैसेही संरक्षणीय होते थे जैसे अपने हों।

मध्य एशियाके आक्रमणकर्ता जो देशको लूटने तथा बरबाद करने पर तुले हुये थे, युद्धकी उपर्युक्त सीमाओंकी परवाह नहीं करते थे। रक्त और लूटके प्यासे वे केवल शत्रु पर टूट पड़ना ही जानते थे। भारतीय शासकोंसे जिनमें शक्तिका अभाव न था, ऐसे संस्कृतिहीन शत्रुओंकी समता नहीं की जासती है।

जब महमूद गजनवी आनन्दपाल और उसकी प्रजाको निर्दयता पूर्वक नष्ट कर रहा था तब उसे अपने साम्राज्यके मध्य एशिया वाले मोर्चे पर एक बड़े भारी संकटका सामना करना पड़ा। प्रसिद्ध इतिहासकार अलबेरूनीके अनुसार आनन्दपालने महमूदके पास एक सम्वाद भेजा कि "इस समय तुम विपदग्रस्त हो इसलिये मैं तुमसे नहीं लड़ूँगा। मैं पांच हजार आदमी तुम्हारी सहायताके लिये भेजूँगा। जाओ और पहले इलाकखांको पराजित करो, उसके बाद जब लौटोगे तब हम लड़ेंगे। महमूदने अस्थाई सन्धिकी घोषणा करदी और आनन्दपालके भेजे हुये पांच हजार सैनिकोंको लेकर इलाकखांको पराजित कर दिया। बादको लौटकर अनन्दपालको भी नष्ट कर दिया। उचित व्यवहारका कितना ऊँचा आदर्श है, और निर्दय शत्रुके विरुद्ध कितना मूर्खतापूर्ण दया प्रदर्शन।

एक और उदाहरण लीजिये। ११९३ ई० से ऐबक और उसके उत्तराधिकारियोंने तीर्थोंको नष्ट-भ्रष्ट किया। सहस्रों वेदियां अपवित्रकी गईं। उनके स्थानों में मसजिदोंका निर्माण हुआ। १२६४ ई० में पाटनके बाघेल राजा अर्जुनदेवने एक मुसलमानके नाम एक दान-पत्र घोषित किया, जिसमें सोमनाथ मन्दिरके धर्माध्यक्ष के आशीर्वादके साथ प्रभासपत्तनकी एक मसजिदके लिये भूमि दानकी गई थी।

हमें भारतके बाहरी संसारका ज्ञान नहीं था। मिहिरभोजके समयमें मेधातिथिने जो लिखा था कि शत्रुकी कठिनाइयों पर कभी तरस न खाओ, उस पर ध्यान नहीं रक्खा गया। हम श्रीकृष्णके उस उद्देश्यको भी भूल गये कि इस प्रकार कायरतापूर्ण विचार आर्य विगर्हित, स्वर्गके बाधक और अपमानजनक हैं। हम पराजित हुये क्योंकि हममें मानवता आवश्यकतासे अधिक थी।

१२०० ई० से कठोर संघर्षका युग प्रारम्भ हुआ। दिल्लीकी गद्दी आक्रामकोंकी शिविर थी जहाँसे महत्वाकांक्षी तुर्क और अफगान सैनिकनेता सीमान्त के उस पारके आयुध-जीवियोंकी सहायतासे मानवताहीन होकर लूटके लिये सभ्य देश पर टूट पड़ते थे। मुस्लिम-राज्यके आश्रित इतिहास लेखक स्वभावतः चित्रका दूसरा पहलू हमारे सामने नहीं रखते। यह दूसरा पहलू था लुटेरोंके प्रति प्रतिदिन होने वाले विरोधका, स्वतंत्रताकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंकी आहुति देने वाले पुरुषोंका, अपनी सतीत्व रक्षाके लिये अपनेको अग्निके समर्पण करने

वाली स्त्रियोंका, और दासतासे बचनेके लिये कुओंमें फांद पड़ने वाले बालकों का इस विशाल आन्दोलनने मुसलमान सरदारोंकी राजनीतिक कार्यकुशलताको अत्यन्त सीमित कर दिया और उसने सामाजिक संगठनकी रक्षाके लिये हमारे बन्धनोंको कड़ाकर दिया, प्राचीन रस्मोंको जकड़ दिया तथा धर्मकी रक्षाके लिये भक्तिवाद सरीखे सांस्कृतिक साधनोंको जन्म दिया।

धर्म-रक्षाके लिये कितने ही हत-भाग्य विक्रमादित्योंने अनेक भाँतिसे लड़कर प्राण गवाँ दिये। उनकी वीर गाथायें अभी लिखी जानेको हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ प्रतिभावान वीर-पृथ्वीराज था जो आगे आने वाले रण बाँकुरोंके लिये आदर्शरूप था। उस संघर्षका प्रथम केन्द्र रणथम्भौर था जिसने प्रति वर्ष तब तक बराबर आक्रमणोंसे मोर्चा लिया जब तक कि उसका अस्तित्वहीन मिट न गया। उनमें सर्वोच्य स्थान चितौड़का है जिसने धर्मको जीवित रखनेके लिये अपने प्राणोंकी आहुति देनेके लिये नव-निहालोंको बार-बार भेंट चढ़ाया। इस युगका अन्तिम महानयुद्ध वीर हेमू विक्रमादित्य था जिसने १५५६ ई० में मरते दम तक बैरामखाँ से युद्ध किया।

(६)

इस भीषण प्रतिरोधका परिणाम यह हुआ कि आक्रमणोंकी भयंकरता मंद पड़ गई और एकसूत्रताका जन्म हुआ। हिन्दुओं और मुसलमानोंमें पारस्परिक मैत्रीका भाव जागृत हुआ। धीरे-धीरे धार्मिक भेद मिटने लगे। सहिष्णुता एवं हेल-मेलके भाव उत्पन्न हुये। मुग़ल साम्राज्यके (जो वस्तुतः भारतीय साम्राज्य ही था) वास्तविक संस्थापक अकबरने उस एकसूत्रताके नेतृत्वमें अपनेको लगा दिया। वह उदारचेता पुरुष, सहिष्णु शासक, दूरदर्शी, राजनीतिज्ञ, अद्वितीय वीर, महान् राष्ट्र निर्माता था। उसने हिन्दुओं और मुसलमानोंकी एकीकृत शक्तिके बल पर एक विशाल भवनकी रचनाकी। उसने सहनशीलता एवं पारस्परिक प्रेमसे परिपूर्ण एक नवीन भारतका निर्माण किया। उसने देशको वह शक्ति प्रदानकी जिसकी उसे आवश्यकता थी। उदारचेता भारतीयोंने उसे अपना ही मान कर अपना लिया, एक प्रकारसे विक्रमादित्यकी पदवी पर बैठा लिया।

अकबरके विरुद्ध एक मात्र प्रताप ही खड़ा रहा जिसे चित्तौड़के अमर गौरवका अधिकारी होनेका गर्व था। उसने उसके सामने घुटने टेकनेसे इन्कार कर दिया जिसे वह तुर्क समझता था। उसके चरित्रका निर्माण वीरोचित तत्वों द्वारा हुआ था। वह आदर्शोंकी जीवित-जागृत मूर्ति था। उसने शरीर छोड़ा पर अमर होकर। यह हत-भाग्य विक्रमादित्य, कालसे भी प्रबल था।

औरंगजेबने इस एकीकृत साम्राज्यकी नींवको निर्बल कर दिया। दक्षिणमें शिवाजीने और उत्तरमें सिक्ख गुरुओंने धर्मकी ध्वजाको लेकर विद्रोहकी अग्नि प्रज्वलित कर दी। अकबरकी उदार राजनीतिज्ञतासे विरोध की धार कुण्ठित हो गई थी, उस पर नई शान चढ़ गई। परिणामस्वरूप औरंगजेबके मरतेही १७०७ ई० में मुगल साम्राज्यका विनाश होगया। शिवाजी महाराजने विक्रमादित्यकी भावनाको पुनः प्रज्वलित किया।

इस बीचमें कपट-व्यापार करनेके लिये योरोपीय इस देशमें आये और बलपूर्वक राज्य करनेके लिये ठहर गये। उन्होंने भारतीय आयुध-जीवियोंकी सहायता ली, जीर्ण शीर्ण एवं स्वार्थी शासकोंको धनका लालच दिया अथवा उन्हें अकर्मण्य कर दिया। इस विदेशीय अपहरणके विरोधमें कितने ही वीरोंने स्वदेश-रक्षाके निमित्त भयंकर युद्ध किये, पर वे असफल रहे। पूनाकी साम्राज्य शक्ति पूर्णरूपेण सुदृढ़ होनेके पूर्व ही आन्तरिक झगड़ों तथा बाह्य आक्रमणोंके कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गई। १८१८ ई० में अंग्रेजोंने खिड़कीके युद्धमें विजय पाई। इस प्रकार अन्तिम भारतीय साम्राज्यका विनाश हुआ। विदेशियोंने भूमि पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। सन् १८५७ ई० में जब पुनः राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करनेका सशस्त्र उद्योग असफल हुआ तब देश अपने विदेशी विजेताओंके समक्ष पूर्णरूपेण धराशायी हो गया।

हम लोग शारीरिक, नैतिक और मानसिक उन्नतिमें संसारसे कहीं आगे थे, पर हममें संगठित होकर विनाश करनेकी कलाकी कमी थी।

हम पराजित हुये। हम निःशस्त्र कर दिये गये। हमारी वीरताकी गौरवपूर्ण परम्परायें टूट गईं और मिट गईं। हम अपनीही जन्म-भूमिमें दासताका पट्टा पहने हुये हैं। अब केवल विक्रमादित्यका नाम ही अवशिष्ट है जो चुम्बककी भाँति ही हमारी आकांक्षाओंको अपनी ओर खींचता है। विक्रमादित्य हमारी उस शक्ति, संस्कृति और स्वतंत्रताका सार है, जिस पर हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है।

(७)

आइये, इस बातकी जाँच करें कि विक्रमादित्यके नाममें ऐसी कौनसी विशेषता है जिससे आकर्षित होकर हम लोग एकत्र हुये हैं। हमारा उद्देश्य केवल अपने अतीतको गौरवान्वित करने तथा वर्तमानका आनन्द लेनेके लिये ही नहीं है। इस महोत्सवके पीछे हमारे वे राष्ट्रीय उद्देश्य छिपे हुये हैं जिनका हम अभी स्पष्ट अनुभव नहीं कर रहे हैं, किन्तु उनका उन्नयन आवश्यक है। इस देवोपम वीरत्माकी पूजामें हम अपनी परम कामनाके निःसंकोच प्रदर्शनका उद्योग कर रहे हैं।

इस उपासनामें हम अपने वास्तविकरूप—अमर गौरवके अधिकारीके रूप—में खड़े हैं। हमारा देश विपन्न है। परन्तु हम इससे भयभीत नहीं होसकते। हमारी शिक्षाकी पृष्ठ भूमिने हमें रीढ़-हीन बुद्धिवादी बना दिया है। परन्तु हम ऐसा नहीं होने देना चाहते। इस महोत्सवमें हम एक जागृत एवं फड़कते हुये विश्वासके उद्योगोंसे ओत-प्रोत हैं। हम गला घोटने वाली जंजीरोंको फेंक रहे हैं। हम आज देशकी प्रतिभाके अनुकूलही खड़े होरहे हैं। जिस प्रकार हम अतीत के विक्रमादित्यके स्वर्णयुगकी ओर गर्वकी दृष्टिसे देखते हैं, उसी प्रकार हम आने वाले विक्रमादित्यके महत्तर युगकी भी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

इस देशके जन समुदायका अधिकांश भाग जाति और परम्पराओंसे, भाषा और साहित्यसे, सामाजिक संगठनके सघन बन्धनोंसे, सम्बद्ध है। वे उस एकतासे पूर्ण हैं जिनकी ओर विक्रमादित्य आज संकेत कर रहा है। संसारकी जातियों में हमीं उस उद्देश्यके प्रदर्शनमें लज्जा और संकोच क्यों अनुभव करें? विक्रमादित्यका भाव हमारे हृदयमें एक प्रकारकी प्रेरणा करता है और इसीसे यह हमारे लिये जीता-जागता विश्वास है। यह राजनीतिक शक्तिका प्रबल विश्वास है जिसे विदेशी शक्ति दबा नहीं सकी है और जो हमारे बाहुबल द्वारा उद्धत है तथा हमारे बाहुबल पर ही आश्रित है, और जो हमारी सामाजिक व्यवस्थाकी प्रतिभा, तथा साहित्यिक और कलात्मक पैतृक सम्पति द्वारा प्रभावित है और उसी पर आधारित है। वह विश्वास है जो धर्मकी नीव पर स्थित है।

जब मैं धर्म शब्दका प्रयोग करता हूँ तब मैं आपको सावधान कर देना चाहता हूँ कि आप किसी भ्रममें न रहें, वह धर्म जिसकी विक्रमादित्य मूर्ति है, एक सम्प्रदाय या मत नहीं है और न वह हिन्दू धर्मही है जैसा हम उसे पुकारते हैं, और न वह हमारी प्रचलित जातिप्रथाही है, और न सर्व सुलभ साम्प्रदायिक अहंकारही है। यह जीवनका एक मार्ग है, यह सबसे अधिक व्यापक अर्थमें अपनी संस्कृति है, यह जीवनका एक सर्वोपरि नियम है। यह धर्म संस्कारों, प्राचीन गाथाओं, जीवनकी पद्धतियों, आचारके नियमों, परम्पराओं, दृष्टिकोणों, भाषा और साहित्यकी वसुधा, जीवन-सिद्धान्तों, सामाजिक व्यवस्थाओं और जागृत आदर्शों का सन्निवेश है, जो हमारी जाति और हमारे देशकी आत्मा के सांचेमें ढले हुये हैं। हमारा यह विश्वास है कि वेद धर्मके मूल उद्गम स्थान हैं। हमारे देश वासियों को चाहे वे किसीभी जातिके हों, जीवन और इतिहासकी सजग एकता प्रदान करता है। इस विश्वाससे केन्द्रित जो पौराणिक गाथायें बन गई हैं उनका सम्बन्ध नदियों, पर्वतों, नगरों, वीरों, और ऋषियों, मुनियोंकी कथाओंसे है। इस विश्वास

ने हमारी सामाजिक व्यवस्थाको जो स्वरूप प्रदान किया है, वह उस पारिवारिक जीवन पर आश्रित है, जिस पर पैतृक परम्पराका आधिपत्य है और जो प्रत्येक असहाय शरणार्थी व्यक्तियोंको शरण देता है। और उसका स्वयं सिद्ध सिद्धान्त स्त्रियोंके सतीत्वका सम्मान करना है, जो जाति और संस्कृतिकी शुद्धताकी रक्षा करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। इस सामाजिक व्यवस्थाका आधार श्रेणी-युद्ध पर नहीं है। अपितु इसका आधार यह सिद्धान्त है कि समाजके विभिन्न समुदाय एक दूसरे पर आश्रित हैं और वे एक दूसरे से अलग नहीं किये जासकते। सांस्कृतिक विकासके आधार पर ही उनका श्रेणी-विभाजन किया गया है।

धर्मके वे सिद्धान्त जिनमें कभी परिवर्तन नहीं होता वे नित्य-विधान, नित्य शब्द और नित्य-मातृत्व है। हमारे समस्त आधारका नियंत्रण उस अपरिवर्तनशील विधान द्वारा होना चाहिये, जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, अग्राह्यता के परम नैतिक गुणों पर आश्रित है। और हमारा वह आचार आत्मसंयमसे युक्त पुरुषार्थसे प्रभावित हो जिससे मनुष्य अपनी सीमाओंको पार कर इसी जीवनमें परम पुरुषत्वको प्राप्त करे।

शब्द साहित्यकी वह पैतृक सम्पत्ति है संस्कृत जिसकी प्रतीक है। यह वह वाहन है जो धर्मको एक युगसे दूसरे युगमें लेजाता है। शब्द हमारे अतीतका देवालय, हमारे वर्तमानकी शक्ति और भविष्यका मंत्र है।

और इसका आधार मातृत्वका जागृत भाव, पुनीत आर्यावर्त-भारतमाता, हमारी इह लोक और परलोककी शान्ति तथा आशा है। वह उन लोगोंके प्रति चिरस्थायी सम्मानकी प्रेरणा करती है जो इसके लिये जिये और मरे। इससे वह (भारतमाता) स्वतंत्र, महान और अमर बनी रहे।

विक्रमादित्यकी भावना इस धर्मके चारों ओर पथप्रदर्शक, पालक और रक्षकके रूपमें परिवेष्टित है।

इसलिये हमें अपने हृदयकी आकांक्षाओंको प्रगट करनेमें संकोच न करना चाहिये, चाहे हमारी शक्तियां सीमित हों चाहें हमारी परिपालित आकांक्षा स्वप्न ही सिद्ध हो। हमें अपने प्रति सच्चा होना चाहिये। हमारे स्वप्न हमारे शब्दों और कार्योंसे कहीं अधिक हमारे अंग हैं। हम विक्रमादित्यके लिए उत्कट आकांक्षा एवं लालसा करते हैं, क्योंकि विक्रमादित्यही उस एक मात्र स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है जिसके अन्तर्गत हम उस पूर्ण उच्चताको तभी प्राप्त कर सकते हैं जब हमारी मातृ-भूमि स्वबाहुबलसे अर्जित शक्ति और संस्कृति का राष्ट्रीय निवास स्थान बनेगी।

विक्रमादित्य हमारा वह्निस्तम्भ है जो हमें दासतासे हटाकर आशा की उज्ज्वल भूमिकी ओर लिये जारहा है।

श्री विक्रम द्विसहस्राब्दि महोत्सव

स्वागताध्यक्ष सर पद्मपति सिंहानिया का भाषण

मित्रो,

जिस महापुरुषकी स्मृतिमें हम आप यहाँ पर एकत्रित हुए हैं, उसके प्रति श्रद्धा ही आज हमारे नगरके तथा बाहरके सम्भ्रान्त व्यक्तियोंको यहाँ तक खींच लाई है। इसलिये केवल शिष्टाचारके नाते आपको धन्यवाद देना मेरे लिये आवश्यक हो पर आपके लिये अनावश्यक होगा। हिन्दू-संघकी स्वागत समितिके स्वागत सत्कारमें जो कुछ त्रुटि रही होगी वह आप अपनी श्रद्धा, लगन और भक्तिके आवेगमें निश्चय ही भूलसे गये होंगे। सम्राट विक्रमादित्यका नाम स्वभावतः हमारे नेत्रोंके सम्मुख गौरवशाली अतीतका उज्ज्वलतम पृष्ठ खोल देता है। उस युगकी याद दिला देता है जिस समय आर्य्य संस्कृति उच्चताके शिखर पर विद्यमान थी।

विक्रम युगके प्रवर्तक सम्राट विक्रमादित्यके विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है। जिसको जिस किसी आधारका पता चलता है, उसीके सहारे वह छान-बीन करने लगता है। स्कन्द पुराणसे राजतरंगिणी तक, चीनी यात्रीके वर्णनसे मेक्समूलर तक, हर आधारके द्वारा उनकी खोज जारी है। इन अनेक अनुमानोंका यह परिणाम हुआ है कि निर्णय करनेके लिये हमारे सामने १२–१४ विक्रमादित्य हैं। किन्तु इसका निर्णय तो यहाँ पर एकत्रित विद्वान् मण्डलीही कर सकती है और करे। पर इतना तो निर्विवाद है कि इस सम्वत्के प्रवर्तक उस महापुरुषने एक समय अपनी विजयपताका फहरा कर भारतवर्षमें आर्यसंस्कृति सनातनी निष्ठा, कला विज्ञान और साहित्य की दुन्दुभी बजा दी थी। और आज हमारे सामने कला, शिष्टाचार, संस्कार, ज्ञान, विज्ञान तथा प्राचीन समाज, राष्ट्र और धर्म का जो भी अविशिष्टरूप दीख पड़ता हैं, वह इसी विभूतिकी संकलित देन है। खोज करनेकी धुन वालोंके सामने नित्य नये प्रश्न उपस्थित होते रहते हैं, उन्हें हल करना उनका काम है। किन्तु अपनी व्यवसायात्मिका बुद्धिके अनुसार मैं इतना ही जान लेना बस समझता हूँ कि कालिदासके "ज्योतिर्विदाभरण" ग्रन्थमें वर्णित विक्रमादित्य, भारतके ही नहीं, विश्वके सबसे बड़े सम्राटोंमें से एक थे। बहत्तर कोस लम्बी सेना, तीन करोड़ पैदल और दस करोड़ सवारका एक चौथाई कर देने पर भी वह आज संसारकी सबसे बड़ी सेना होगी।

विक्रम सम्वत् तथा अन्य प्रचलित सम्वतोंसे जो बड़ा भारी अन्तर है वह यह है कि दूसरे सम्वत् प्रायः किसी महापुरुषके मरनेके बाद उसके अनुयायियों द्वारा चलाये गये हैं, जबकि विक्रमने अपने विक्रमसे अपनी संस्कृतिके हस्ताक्षरके लिये एक सम्वत् चालू किया, जिससे आने वाली पीढ़ी पर शताब्दियों तक उनकी महत्ताकी अमिट छाप लगी रही, और आज हम साहसके साथ कह सकते हैं कि उनकी वह अभिलाषा पूरी होरही है। हमें इस बातका भी अभिमान है और होना चाहिये कि संसारके प्रचलित सम्वतोंमें हमारा विक्रम सम्वत् अपने ढंगका अकेला है और सबसे प्राचीन है। यह सम्वत् हमारे लिये विश्वविजयी पराक्रम तथा प्रगतिका सन्देशवाहक है, स्मारक है, चिह्न है, स्वर्ण रेखा है। आज हमें विक्रमके साथ साथ उनके नवरत्नोंकी याद आना स्वाभाविक ही है, जिनके द्वारा किसी समय हमारी देव भाषा संस्कृतका विशाल भण्डार अमूल्य-रत्नोंसे भरा गया था। सामाजिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय विधि विधान बनाये तथा संग्रह किये गये थे। जिन नवरत्नोंमें महाकवि कालिदास ऐसा महाकवि था जिसके ग्रंथोंके कारण आज संसारके साहित्यमें हमारा सिर ऊँचा है। यह निसन्देह हम विक्रमके अनुयायियोंके लिये एक बड़े दुख और कष्टका विषय है कि हम पराधीन और निस्तेज होरहे हैं। हमारा वैभव नष्ट होगया है, हमारा ज्ञान-विज्ञान सब लुप्त होगया है, और हम सोये हुये, खोये हुये तथा लुटे हुये भाग्यके भरोसे पड़े हैं। मैं ईश्वरसे मनाता हूँ और हृदयसे चाहता हूँ कि विक्रमका यह समारोह हमें सोतेसे जगादे, जागतोंको उठा कर खड़ा करदे और खड़े हुओंमें आगे बढ़नेका साहस भरदे जिससे आज जिसकी हम झाँकी देखनेको व्याकुल हैं वह सत्यरूपमें प्रगट होजाय।

बन्धुओ, इस अवसर पर आपको बड़े बड़े विद्वानोंके प्रवचन सुननेका अवसर मिलेगा। उनके तर्कों द्वारा आप शायद यह जान सकें कि क्या पहलेका मालव संवत् ही विक्रम सम्वत नामसे ख्यात है या स्वतंत्र वस्तु है। आपको यह भी निर्णय करनेका अवसर मिलेगा कि शकोंको हटाने व भगाने वाले विक्रमादित्य भर्तृहरिके छोटे भाई थे या अन्य व्यक्ति।

मैं तो केवल यहीं कहूँगा कि इस अवसर पर अपने अतीतकी अनुभूति मान्य करके यह संकल्प कीजिये कि सम्वत् २००० भारतके लिए विद्या, स्वाधीनता और उद्योग व्यवसायके लिए एक नया युग खड़ा करदे। जिस मर्यादाके लिये विक्रमने सब कुछ किया उसीकी रक्षा आप प्राणपण से करेंगे।

इस अवसर पर आपके मनोरंजनके लिये तथा प्राचीन इतिहासका चित्र फिरसे आपके सामने उपस्थित करनेके लिये हमने कुछ आयोजन किये हैं।

विक्रम द्विसहस्राब्दि महोत्सव, कानपुर :—
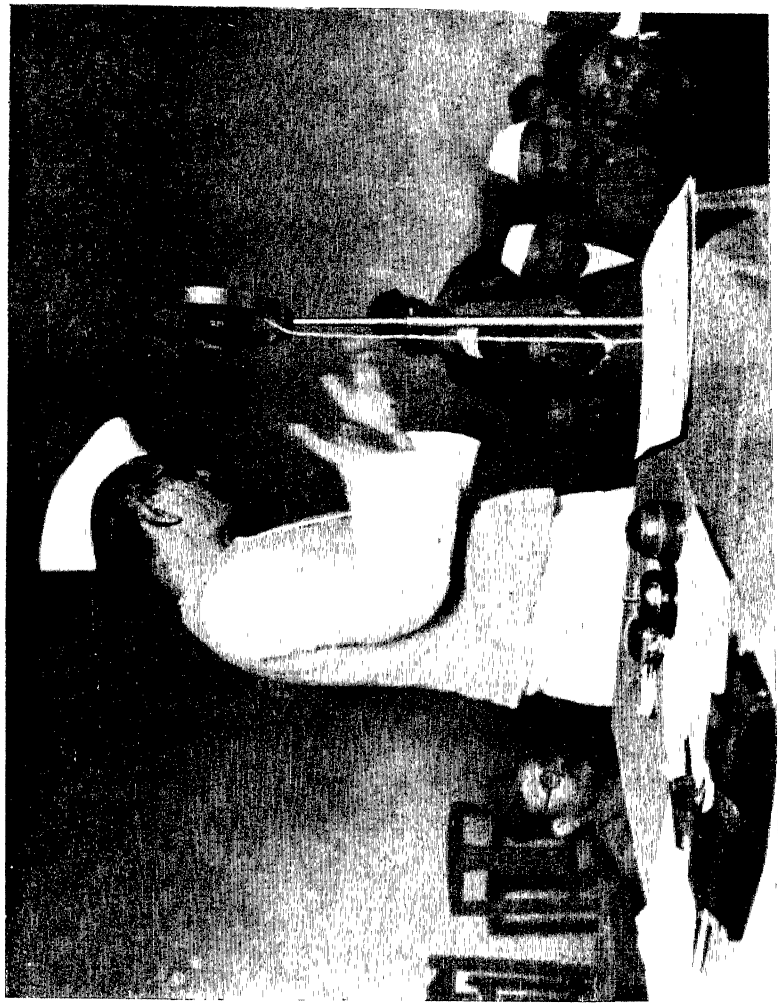
विक्रम समारोह के अध्यक्ष श्री के० एम० मुंशी अपना भाषण दे रहे हैं

विक्रम द्विसहस्राब्दि महोत्सव, कानपुर :—
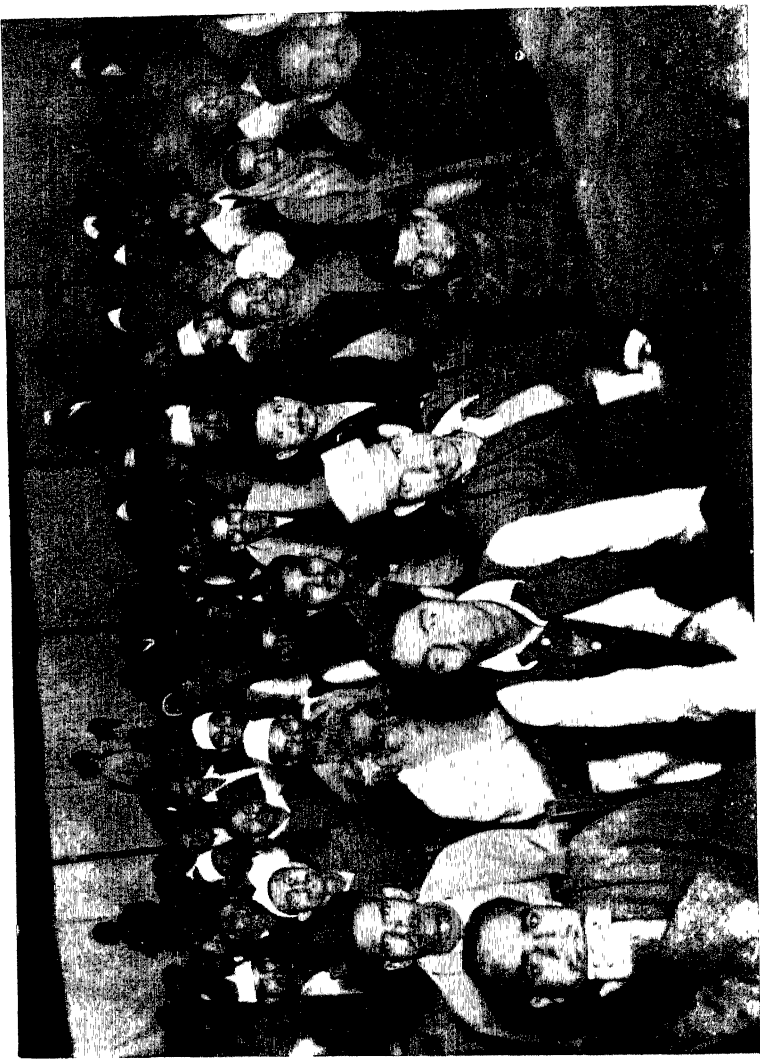
पंडाल में उपस्थित जनसमूह के एक पार्श्व का दृश्य

समाचारपत्रों द्वारा इसकी पूर्ण सूचना मिल ही चुकी होगी। फिर भी मंत्री द्वारा उनकी सूचना आपको दी जायगी। आप इनमें भी सहयोग दें और आनन्द उठावें तथा ज्ञान वृद्धि करें। अब मैं अध्यक्ष महोदयसे कार्य प्रारम्भ करनेका अनुरोध करूँगा। हमने उनके ऐसे विद्वानके सहयोग, समय तथा ज्ञान सब पर अधिकार कर अपने उत्सव की शोभा और महत्ता बढ़ाई है। विद्वानोंकी वस्तुतः यही शोभा है। हम सब इसके लिये कृतज्ञ हैं और आभारी हैं।

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता

ले० प्रोफ़ेसर हरिश्चन्द्र सेठ, एम०ए०, पी०एच०डी० (लन्दन)

साहित्य भूषण, नागपुर यूनीवर्सिटी

अन्यत्र हमने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि उड़िसा में प्राप्त हाथी-गुफाके शिलालेखके प्रसिद्ध महाराज खारवेलका समय ई० पूर्व प्रथम शताब्दि अथवा विक्रम संवत् प्रारम्भ होनेके कुछही पहिलेका है[1]। इस मतके आलोकमें यह प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि क्या खारवेल और गर्दभिल एकही व्यक्ति थे। निम्नलिखित विचारोंसे इन दो व्यक्तियोंका एक होना प्रकट होता है :—

(१) खारवेलके समान गर्दभिलका समय भी विक्रम संवत्के प्रारम्भ होनेसे कुछही पहिलेका है। जैन साहित्यमें सुरक्षित कालकाचार्य कथाके अनुसार उज्जैनसे गर्दभिलको शकोंने हरा कर भगा दिया[2]। जैन ऐतिहासिक परम्पराके अनुसार विक्रम संवत् प्रारम्भ होनेके पूर्व ४ वर्ष शकोंने उज्जैन पर राज्य किया। शकोंसे पहिले १३ वर्ष गर्दभिलका वहां पर राज्य था[3]।

(२) गर्दभिल नाम खारवेल नाम का रूपान्तर प्रतीत होता है। कुछ जैन प्राचीन ग्रंथोंमें गर्दभिल वंशके राजाओंको रासभ राजाभी कहा हैं[4]। जैसा जायसवालका कहना है, मालूम होता है कि गर्दभ और रासभ दोनों खारवेल नाममें खरके पर्यायवाचक हैं, और भिल, वेल का रूपान्तर है[5]। इस प्रकार खारवेल और गर्दभिल सम्भवतः एकही व्यक्तिका नाम हैं।

(३) जैन ऐतिहासिक परम्पराके अनुसार और उस समयके इतिहासकी ध्यानपूर्वक आलोचना करनेसे भी विदित होता है कि गर्दभिलने शुंग वंशके राजाओंसे मालवा छीन लिया था[6]। और इस प्रदेशमें उसने आंध्र अथवा शातवाहन वंशकी बढ़ती हुई बाढ़को भी रोक दिया था। इस समय मध्यभारतमें आंध्र वंशका प्रभाव पहुँच चुका था। यह इस वंशके द्वितीय और तृतीय राजाओं, कृष्ण और शातकर्णी, के सांचीके शिलालेखोंसे विदित होता है। हाथी गुफा

---

1 Nagpur University Journal No 8

2 Brown: The Story of Kalaka 3 मेरुतुंग : विचार श्रेणी

4 जिनसेन : हरिवंश पुराण अ० ६० 5 Jbors. Vol 16 P 306

6 जिनसेनकी हरिवंश पुराणके अनुसार रासभ (गर्दभिल) राजाओंके पहिले शुंग वंशीय पुष्यमित्र, अग्निमित्र आदिका उज्जैन पर राज्य था।

शिलालेखसे खारवेलके बारेमें भी यह विदित होता है कि शातकर्णीकी परवाह न करते हुए उसने पश्चिमकी ओर अपनी विजय पताका फहराई, और उसका प्रभाव पश्चिममें भोजकों और राष्ट्रिकोंके प्रदेश तक पहुँचा। इससे यह अनुमान किया जासकता है। कि खारवेलने मालवाका प्रदेश विजय किया हो, और यहाँ पर भी आंध्र राजा शातकर्णीके बढ़ते हुए प्रभावको इसने रोक दिया हो।

(४) जैन ऐतिहासिक परम्परामें गर्दभिलका राज्य १३ वर्ष दिया गया है। इसके साथ खारवेलके उसके शिलालेखमें दिये हुए उसके १३ वर्षके राज्य-कार्योंके विवरणकी तुलनाकी जासकती है। अपने राज्यके तेरहवें वर्ष बाद खारवेल जीवित था या नहीं और उसने क्या किया इसका उसके शिलालेखसे कुछ पता नहीं चलता। पर यह निश्चय है कि अपने राज्य-कालके तेरहवें वर्षमें उसकी विजयोंका दौर सहसा ख़तम होजाता है और इसके बाद यदि वह जीवित रहा तो वह अधिकतर धर्म कार्योंमें लगा रहा। यदि गर्दभिल और खारवेल एकही व्यक्ति हैं तो यह कहा जासकता है कि अपने राज्यके तेरहवें वर्षमें खारवेलकी मालवा में शकोंके हाथसे हार हुई और यहीं से उसकी विजयोंका अन्त हुआ।

(५) पौराणिक परम्पराके अनुसार गर्दभिल वंशमें सात राजा हुए। उस ओर उड़ीसामें प्राप्त एक प्राचीन ग्रंथमें खारभिल (खारवेल) के वंशमें सात राजा बताये हैं[7]।

(६) गर्दभिल और खारवेल दोनोके वंश जैन-धर्मके अनुयायी थे। खारवेल, उसकी रानी और उसके उत्तराधिकारीके शिलालेखोंसे उनकी जैन-धर्ममें श्रद्धा स्पष्ट प्रकट होती है। उस ओर जैन परम्पराके अनुसार गर्दभिलका पुत्र विक्रमादित्य, जिसने बादमें शकोंको मालवासे हरा कर भगा दिया, जैन-धर्मका अनुयायी था।

(७) निम्नलिखित तथ्यसे भी अनुमान किया जासकता है कि संभवतः गर्दभिल और खारवेल एकही व्यक्ति थे। कालकाचार्य कथाके अनुसार गर्दभिलने कालकाचार्यकी भिक्षुणी बहिनको भगाकर अपने रनिवासमें रखलिया, जिसके कारण कालकाचार्य, गर्दभिलसे क्रुद्ध होकर उसके विनाशके लिये शकोंको सिन्ध नदके पश्चिमी किनारेसे बुलाकर लाया। कालकाचार्य-कथाके अनुसार कालक मालवाके धार प्रदेशके राजा वज्रसिंहका पुत्र था[8]। इस कथाके एक पाठमें वज्रसिंहको मगध देशसे आया हुआ कहा गया है, जिससे यह विदित होता हैकि वज्रसिंह संभवतः मगधके शुंग राज्यवंशमें से हो, और वह और पुराणोंका शुंग

7 Jbors. Vol 16 P. 191 8 Brown: The Story of Kalaka

वंशका राजा वज्रमित्र एकही व्यक्ति हों। उस ओर खारवेल के शिलालेखसे पता चलता है कि उसकी एक रानी वज्रके घरानेकी थी। यदि गर्दभिल और खारवेल एकही व्यक्ति माने जायें तो यह अनुमान किया जासकता है कि वज्रके घरानेकी खारवेलकी रानी कालकाचार्यकी बहिन और धार के राजा वज्रसिंहकी पुत्री थी। इससे यह प्रगट होता है कि संभवतः कालक गर्दभिलसे केवल इसही कारण क्रुद्ध न था कि उसने उसकी बहिनको भगा लिया था, वरन् उसका पैतृक राज्य भी छीन लिया था।

उक्त तथ्योंके आलोकमें यदि गर्दभिल और खारवेल एकही व्यक्ति मान लिये जायें, तो गर्दभिलकी ऐतिहासिकतामें हमको विश्वास करना पड़ेगा। जैन साहित्यमें वर्णित गर्दभिल और शकोंके बीच जो झगड़ेकी कथाएँ हैं वह भी एक ऐतिहासिक घटना पर निर्भर प्रतीत होती हैं। यदि गर्दभिल एक ऐतिहासिक व्यक्ति है तो शकारि विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकताका प्रश्न नये रूपसे हमारे सामने आता है। जैन ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार विक्रमादित्य गर्दभिल का पुत्र था[9], और गर्दभिलकी शकोंसे हारके चार वर्ष पश्चात् विक्रमादित्यने शकोंको हरा कर उज्जैनसे भगा दिया[10]।

शातवाहन राजा हाल की 'गाथा शप्तशती' में विक्रमादित्य का जिक्र है जो अपने दान के लिये विख्यात था[11]। यह बहुधा अनुमान किया जाता है कि उक्त विक्रमादित्यसे शकारी विक्रमादित्यका तात्पर्य है, क्योंकि हालका समय विक्रम संवतकी पहली शताब्दिके लगभग है और इसलिए यहाँ किसी बादके विक्रमादित्यसे तात्पर्य नहीं होसकता। यदि यह विचार ठीक है तो इससे भी शकारि विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकता प्रकट होती है।

खारवेलके हाथीगुफा शिलालेखके पास ही मंचपुरीगुफामें खारवेल की रानी और जैसा कि अनुमान किया जाता है उसके पुत्र और उत्तराधिकारी श्री वक्रदेव (वकदेवसिरि) के भी लेख हैं। इस निर्णयके आलोकमें कि खारवेल और गर्दभिल एकही व्यक्ति हैं, यह प्रश्न किया जासकता है कि क्या उक्त शिला-

---

9 कुछ अन्य दन्तकथाओंके अनुसार विक्रमादित्य धारके राजा गन्धर्वसेन का पुत्र था। (Penzer: Ocean of Stones Vol 6) गन्धर्वसेन गर्दभिल नामका ही रूपान्तर मालूम होता है।

10 मेरुतुंग: विचारश्रेणी

11 संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअँ अणुसिक्खिअं तिस्सा॥६४॥ अ० ५

लेखमें अस्पष्ट अक्षरोंमें लिखा हुआ वक्रदेव नाम, गर्दभिल अथवा खारवेलके पुत्र विक्रमदेव या विक्रमादित्यका ही रूपान्तर है ?

गर्ग संहिताके अन्तर्गत युगपुराणसे पता चलता है कि एक ओर कलिंगके राजा और शत या शातवाहन राजा और दूसरी ओर शकोंके बीच घोर युद्ध हुआ जिसमें शकों की हार हुई[12]। आगे जाकर इस विवरणसे यह भी विदित होता है कि यह लड़ाई सिप्रा नदी अथवा उज्जैनके समीप हुई। सम्भवतः यहाँ कलिंगके राजाका मतलब खारवेल अथवा गर्दभिलके पुत्र विक्रमादित्यसे हो और उक्त वर्णन उस लड़ाई का हो जिसमें विक्रमादित्यने शकोंको हराकर मालवासे भगाया हो। युगपुराणके विवरणसे यह भी मालूम होता है कि शकोंके हरानेमें शातवाहन अथवा आन्ध्र राजाओंने भी भाग लिया। कुछ भारतीय दन्तकथाओं से पता चलता है कि विक्रमादित्य प्रतिस्थानसे उज्जैनमें आया[13]। प्रतिस्थान आंध्र अथवा शातवाहन् नरेशोंकी राजधानी थी। इससे भी पता चलता है कि विक्रमादित्यने शकोंको मालवासे बाहर निकालनेमें शातवाहन् राजाओंकी सहायता ली हो।

यदि इस लेखकी विचार धाराएँ ठीक हैं तो हम इस अनुमान पर पहुँचते हैं कि विक्रमादित्य शकारि एक ऐतिहासिक व्यक्ति है। वह गर्दभिल अथवा खारवेल का पुत्र था। विक्रमादित्यके विजयी पिताकी उज्जैन में शकों द्वारा हार हुई। इसके कुछ वर्ष बाद विक्रमादित्यने अपने पैतृक राज्य कलिंगसे चलकर और शातवाहन राजाओं की सहायता लेते हुए मालवासे शकोंको हराकर निकाल दिया। इस विजयके ही उपलक्ष्यमें मालवा व विक्रम संवत् प्रारम्भ हुआ जिसका प्रथम वर्ष ५८-५७ वर्ष पहले ईसाके पड़ता है। सम्भवतः विक्रमादित्यने उस समयकी राजनैतिक घटनाओंके कारण उज्जैनको अपनी राजधानी बनाया हो, जिसकेलिये भारतीय साहित्य में बहुधा उसको उज्जैनका राजा कहकर पुकारा गया है, और शकोंके ऊपर विजय प्राप्त करनेके कारण वह शकारि कहलाया।

---

12 शकानांच ततो राजा ह्यर्थलुब्धो महाबलः।
दुष्टभावश्च पापश्च विनाशे समुपस्थिते।
कलिंग-शत-राजार्थे वै गमिष्यति।
....

Jbors Vol. 14. P 404

13 Penzer : Ocean of Stories. Vol. 6. P. 232

विक्रमादित्य और विक्रम संवत्

ले० पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ, अध्यक्ष-पुरातत्व विभाग, जोधपुर

भारतवर्ष में विक्रमादित्य एक बड़ा प्रतापी राजा माना जाता है। इसके विषयमें कहा जाता है कि यह मालवेका प्रतापी राजा था और शक (सीदियन) लोगोंको हरानेके कारण 'शकारि' के नामसे प्रसिद्ध होगया था।

अपनी इसी विजयकी यादगारमें इसने 'विक्रम संवत्' के नामसे अपना संवत् प्रचलित किया था, जो आज तक बराबर चला आता है। यह राजा स्वयं विद्वान् और कवि था, तथा इसकी सभामें अनेक प्रसिद्ध विद्वान् और कवि रहा करते थे। इसकी राजधानी धारा नगरी थी। परन्तु डाक्टर कीलहार्नकी कल्पनाके अनुयायी, पाश्चात्य विद्वान्, इस बातको स्वीकार करनेमें संकोच करते हैं। उनका कहना है कि विक्रमादित्य नामका कोई राजाही नहीं हुआ है और न उसका चलाया कोई संवत्ही है। आजकल जो संवत् विक्रमके नामसे प्रसिद्ध है, वह पहले 'मालव संवत्' के नामसे प्रचलित था और पहले पहल विक्रमका नाम इस संवत् के साथ धौलपुरसे मिले चौहान चण्ड महासेनके वि० सं० ८९८ (ई० स० ८४१) के लेखमें जुड़ा[1] मिला है। उसमें लिखा है :—

'वसु' नव अष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य'

इससे पूर्वके जितने लेख और ताम्रपत्र इस संवत्के मिले हैं, उनमें इसका नाम 'विक्रम संवत्' के बजाय 'मालव संवत्' लिखा मिलता है जैसे:—

'श्रीर्म्मालवगणाम्नाते प्रशस्तकृतसंज्ञिते
एकषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशतचतुष्टये।'[2]

अर्थात्—मालव संवत् ४६१ में।

'कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालवपूर्वायां'[3]

अर्थात्—मालव संवत् ४८१ में

'मालवानां गणस्थित्यायाते शतचतुष्टये त्रिनवत्यधिकेऽब्दानां'[4]

---

1 इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग १९, पृ० ३५।
2 एपिग्राफिका इण्डिका, भाग १२, पृ० ३२०।
3 यह लेख अजमेरके अजायबघरमें रक्खा है।
4-5 कॉर्पस इन्सक्रिपशनं इण्डिकेरं, भाग ३, पृ० ८३ और १५४।

अर्थात्—मालव संवत् ४६३ में।

'पञ्चसु शतेषु शरदां यातेष्वेकान्नवतिसहितेषु'

'मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु।'[5]

अर्थात्—मालव संवत् ५८६ में।

'संवत्सरशतैर्यातैः सपंचनवत्यर्ग्गलैः सप्तभिर्म्मालवेशानां'[1]

अर्थात्—मालव संवत् ७६५ बीतने पर।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानोंसे मिले उपर्युक्त लेखोंके अवतरणोंसे पाठकोंको विदित हो जायगा कि उस समय तक यह संवत् विक्रम संवत्के बजाय मालव संवत् कहलाता था।

यद्यपि धिनिकी (काठियावाड़) से मिले ७६४ के दानपत्र[2] में संवत्के साथ विक्रमका नाम जुड़ा मिला है, तथापि उसमें लिखा रविवार और सूर्यग्रहण एकही दिन न मिलने से डाक्टर फ्लीट और कीलहार्न उसे जाली बतलाते हैं।

कर्कोटक (जयपुर) से कुछ सिक्के मिले हैं। उन पर 'मालवानां जय' पढ़ा गया है। विद्वान् लोग उन सिक्कोंको ई० स० पूर्व २५० से ई० स० २५० के बीचका अनुमान करते हैं। इससे प्रकट होता है कि शायद मालव जातिवालोंने अपनी अवन्ति देशकी विजयकी यादगारमें ये सिक्के चलाये हों और उसी समय उक्त संवत् भी प्रचलित किया हो। तथा इन्हीं लोगोंके अधिकारमें आनेसे उक्त प्रदेश भी मालवदेश कहलाया हो। इसीसे समुद्रगुप्तके इलाहाबाद वाले लेखमें अन्य जातियोंके साथ-साथ मालव जातिके जीतनेका भी उल्लेख मिलता है।

इन्हीं सब बातोंके आधार पर डाक्टर कीलहार्नने कल्पनाकी है कि ईसवी-सन् ५४४ में मालवेके प्रतापी राजा यशोधर्मन् (विष्णुवर्धन) ने करूर (मुलतानके पास) में हूण राजा मिहिरकुलको हराकर विक्रमादित्यकी उपाधि धारणकी थी और उसी समय प्रचलित मालव संवत्का नाम बदल कर 'विक्रम संवत्' कर दिया था। तथा साथही इसमें ५६ वर्ष जोड़कर इसे ६०० वर्ष पुराना भी घोषित कर दिया था। परन्तु इस कल्पनाका कोई आधार नहीं दिखाई देता क्योंकि एक तो यशोधर्मन्के 'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण करनेका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। दूसरा, एक प्रतापी राजाका अपना निजका संवत् न चला कर दूसरेके चलाये संवत्का नाम बदलना और साथही उसे ६०० वर्ष पुराना सिद्ध करनेकी चेष्टा करना भी सम्भव प्रतीत नहीं होता। तीसरा श्रीयुत् सी० वी० वैद्यका कहना है

1 इण्डियन ऐण्टिक्वेरी भाग १६, पृ० ५६।

2 इण्डियन ऐण्टिक्वेरी भाग १२, पृ० १५५।

कि डाक्टर हार्नले और कीलहार्नका यह लिखना कि ई० स० ५४४ में करूरमें यशोधर्मनने मिहिरकुलको हराया था, ठीक नहीं है। उन्होंने इस विषयमें अलबेरूनीके लेख से जो प्रमाण दिया है, उससे अनुमान होता है कि उक्त करूर का युद्ध ५४४ ईसवी के बहुत पहले हुआ था।

डाक्टर फ्लीट राजा कनिष्कको विक्रम संवत्का चलाने वाला मानते हैं। परन्तु यह भी उनका अनुमानही है।

मि० स्मिथ और सर भाण्डारकरका अनुमान है कि उक्त मालव संवत्का नाम बदलने वाला गुप्तवंशी राजा चन्द्रगुप्त द्वितीयथा, जिसकी उपाधि 'विक्रमादित्य' थी। परन्तु यह अनुमान भी ठीक नहीं जँचता, क्योकि एक तो जब उस समय गुप्तोंका निजका चलाया संवत् विद्यमान था, तब उसे अपने पूर्वजोंके संवत् को छोड़कर दूसरोंके चलाये संवत्को अपनानेकी क्या आवश्यकता थी। दूसरा चन्द्रगुप्त द्वितीयके सौवर्षसे भी अधिक बादके ताम्रपत्रोंमें मालव संवत्का उल्लेख मिलता है।

पुराणोंमें आन्ध्रवंशी नरेश हालका नाम मिलता है। इसी हाल (सातवाहन) के समय 'गाथा सप्तशती' नामकी पुस्तक बनी थी। इसकी भाषा प्राचीन मराठी है। इसके ६५वें श्लोकमें विक्रमादित्यकी दानशीलताका उल्लेख इस प्रकार है:—

संवाहणसुहरसतोसिराण देन्तेण तुहकरे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइच चरिअमणुसिक्खिअंतिस्सा।

(उक्त गाथा का संस्कृतानुवाद)

संवाहन–सुखरसतोषितेन ददता तव करे लक्षम्।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः॥

मि० विन्सैण्ट, हालका समय ईसवी सन् ६८ (वि० सं० १२५) अनुमान करते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उक्त समयके पहले ही विक्रमादित्य हो चुका था और उस समय भी कवियोंमें वह अपने दानके लिये प्रसिद्ध था।

यद्यपि कल्हणकी राजतरंगिणीमें विक्रमादित्य उपाधिवाले दो राजाओंको आपसमें मिला दिया है तथापि उसमेंके शकारि विक्रमादित्यसे इसी विक्रमादित्य का तात्पर्य है। इसको प्रतापादित्यका सम्बन्धी लिखा है।

इसी प्रकार सातवाहन (हाल)के समयके महाकवि गुणाढ्य रचित पैशाची (काश्मीरकी ओरकी प्राकृत) भाषाके 'बृहत्कथा' नामक ग्रन्थसे भी उक्त समयसे पूर्व ही विक्रमादित्यका होना पाया जाता है। यद्यपि यह ग्रन्थ अब तक नहीं मिला

है, तथापि सोमदेव भट्ट रचित इसके संस्कृतानुवादरूप कथा सरित्सागर (लंबक ६, तरंग १) में उज्जैनके राजा विक्रमादित्यकी कथा मिलती है।

ईसवी सन् से १५० वर्ष पूर्व, उत्तर-पश्चिमसे शक लोग भारतमें आये थे। यहाँ पर उनकी दो शाखाओंका पता चलता है। एक शाखाके लोगोंने मथुरामें अपना अधिकार स्थापित किया और वहाँ पर वे 'सपत्र' नामसे प्रसिद्ध हुए। उनके सिक्कोंसे उनका ईसवी सन् से १०० वर्ष पूर्व तक पता चलता है। दूसरी शाखा के लोग काठियावाड़की तरफ़ गये और वे पश्चिमी 'क्षत्रप' कहाये। इन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय ने परास्त किया था। परन्तु इन शकोंकी पहली शाखा का, जो कि मथुरा की तरफ़ गई थी, ईसाके पूर्वकी पहली शताब्दीके प्रारम्भके बाद क्या हुआ, इसका कुछ भी पता नहीं चलता। सम्भवतः इन्हें ईसवी सन् से ५८ वर्ष पूर्वके निकट इसी शकारि विक्रमादित्यने हराया हो और इसी घटनाकी यादगारमें उसने अपना संवत् भी प्रचलित किया हो।

पेशावरके पास तख्तेबाही नामक स्थानसे पार्थियन राजा गुडूफ़र्स (गोण्डोफ़रस) के समयका एक लेख मिला है। यह राजा भारतके उत्तर-पश्चिमाञ्चलका स्वामी था। इस लेख में १०३ का अङ्क है, पर संवत् का नाम नहीं है। डा० फ्लीट और विन्सैन्ट स्मिथने इस १०३ को विक्रम संवत् सिद्ध किया है। ईसाकी तीसरी शताब्दी में लिखी हुई यहूदियोंकी एक पुस्तकमें राजा गुडूफ़र्सका नाम आया है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय भी यह संवत् बहुत प्रसिद्ध होचुका था और इसका प्रचार मालवेसे पेशावर तक होगया था। अतः विक्रमादित्यका इस समयसे बहुत पहले होना स्वतः सिद्ध होजाता है। परन्तु अभी तक यह विषय विवादास्पद ही है[1]।

विक्रम संवत् का प्रारम्भ कलियुग संवत् से ३०४४ वर्ष बाद हुआ था। इसमेंसे (५६ या) ५७ घटादेनेसे ईसवी सन्, और १३५ घटानेसे शक संवत् आ जाता है। उत्तरी-हिन्दुस्तानवाले इसका प्रारम्भ चैत्र शुक्ला १ से और दक्षिणी

---

१ जिस प्रकार विक्रमका समय विवादास्पद है, उसी प्रकार कवि सम्राट् कालिदासके समयका भी वही हाल है। कुछ विद्वान् उसका अस्तित्व कथाओंमें प्रसिद्ध विक्रमादित्यके समय मानते हैं और कुछ चन्द्रगुप्त द्वितीयके समय। विक्रमके नवरत्नोंमें वराहमिहिरका भी नाम है। इसकी बनाई 'पञ्चसिद्धान्तिका' में उक्त पुस्तकका लेखन-काल शक संवत् ४२७ (वि० सं० ५६२) लिखा है।

वररुचिका विक्रमादित्यके समय होना सिद्ध होता है। परन्तु आधुनिक विद्वान् अमरसिंहका समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दी अनुमान करते हैं।

हिन्दुस्तानवाले कार्तिक शुक्ला १ से मानते हैं। अतः उत्तरमें इस संवत्का प्रारम्भ दक्षिण से सात महीने पहलेही होजाता है।

इसके महीनोंमें भी विभिन्नता है। उत्तरी-भारतमें महीनोंका प्रारम्भ कृष्ण-पक्षकी १ से और अन्त शुक्लपक्षकी १५ को होता है। परन्तु दक्षिणी-भारतमें महीनोंका प्रारम्भ शुक्लपक्षकी १ से और अन्त कृष्णपक्षकी ३० को होता है। इसीलिये उत्तरमें विक्रम संवत्के महीने पूर्णिमान्त और दक्षिणमें अमान्त कहलाते हैं। इससे यद्यपि उत्तर और दक्षिणमें प्रत्येक मासका शुक्लपक्ष तो एकही रहता है, तथापि उत्तरी भारतका कृष्णपक्ष दक्षिणी-भारतके कृष्णपक्षसे एकमास पूर्व होता है, अर्थात् जब उत्तरी भारतवालोंका चैत्र कृष्ण होता है तो दक्षिणी भारतवालों का फाल्गुन कृष्ण रहता है। परन्तु दक्षिणवालोंका महीना शुक्लपक्ष की १ से प्रारम्भ होनेके कारण शुक्लपक्षमें दोनोंका चैत्र शुक्ल होजाता है।

पहले काठियावाड़, गुजरात और राजपूतानेके कुछ भागोंमें इस संवत्का प्रारम्भ आषाढ़ शुक्ला १ से भी माना जाता था, जैसाकि निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध होता है:—

अड़ालित (अहमदाबाद) से मिले लेखमें लिखा है:—

"श्रीमन्नृपविक्रमसमयातीत आषाढादि संवत् १५५५ वर्षे शाके १४२० माघमासे पंचम्यां।"

इसी प्रकार डेसा (डूँगरपुर) के पाससे मिले लेखमें लिखा है:—

"श्रीमन्नृपविक्रमार्कराज्यसमयातीत् संवत् १६ आषाढादि २३ वर्षे (१६२३) शाके १४८८।"

इसके अतिरिक्त जोधपुर आदिमें सेठ लोग इस संवत् का प्रारम्भ श्रावण कृष्णा १ से मानते हैं।

भारतीय राष्ट्रीय आकांक्षाओं का केन्द्र
विक्रमादित्य

ले० डा० राधा कुमुद मुकर्जी, एम.ए., पी.एच.डी.,
अध्यक्ष, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

हिन्दू-संघ द्वारा कानपुरमें आयोजित विक्रमादित्य महोत्सवमें सम्मिलित होकर मैं अपने को गौरवान्वित समझता हूँ। हमारे राष्ट्रीय इतिहास की इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाका उत्सव मनानेका आयोजन कर संघने वस्तुतः उचित ही किया है। सच्चे इतिहासके निर्माणके लिये आवश्यक क्रमबद्ध सामग्रीके अभावके कारण ही आज हम, अभाग्यवश हिन्दुओंके अर्वाचीन इतिहासके मार्ग की कठिनाइयोंमें भटक रहे हैं। यद्यपि हम सब विक्रम सम्वत् और अपने राष्ट्रीय इतिहासकी शताब्दियोंमें उक्त सम्वत्की गणना से भली भाँति परिचित हैं फिर भी हम यह नहीं जानते कि इस महान् सम्वत्का प्रवर्तक वह कौन महान् शासक था जिसका अनुकरण विभिन्न प्रान्तों और विभिन्न समयोंके अनगिनत राजवंशोंने किया। सम्राट् विक्रमादित्य आज भी एक नाम और परम्पराके रूप में भारतीय इतिहासमें विद्यमान है पर गम्भीर अनुसंधान भी अब तक उसे इतिहासमें उचित स्थान देनेमें समर्थ नहीं हुआ है।

किन्तु, फिर भी, हम भावनाओं पर अपनी राष्ट्रीयताका निर्माण कर सकते हैं क्योंकि भावनामें भी उसकी अपनी वास्तविकता होती है और वह इतिहासके सच्चे नायकोंकी अपेक्षा राष्ट्रीय पुनर्निर्माणमें अधिक प्रभावोत्पादक भी हो सकती है। नारीत्वकी प्रतिमूर्ति सच्ची नायिकाओंकी अपेक्षा क्या डेस्डेमोना एक कहीं अधिक प्रभावशालिनी नहीं है? वास्तविक जीवनकी कितनी ही सतियों की अपेक्षा पातिव्रतकी वह कैसी जीती-जागती प्रतिभा है। कविकी कल्पना कभी कभी ऐसे नायकोंका सृजन करती है जो जीवित स्त्री व पुरुषोंकी अपेक्षा कहीं

अधिक प्रभावशाली तथा सजीव होते हैं। उर्मिला जिसके चरित्रकी प्रतिछाया रामायणमें जहाँ कहीं दिखाई देती है, नारीत्वकी पूर्णताका एक अलौकिक उदाहरण है, भले ही वह चरित्रनायक लक्ष्मणकी स्त्री रही हो या न रही हो।

इसी प्रकार विक्रमादित्य हमारा महान् राष्ट्रीय नायक है जिसके चारो ओर राष्ट्रीय दन्त-कथाओंका जाल फैला हुआ है। वह युगों से हमारी राष्ट्रीय आशाओं और आकांक्षाओंका केन्द्र रहा है। हम उस अद्भुत नाममें उस महान भारतीय शासककी प्रतिछाया पाते हैं जिसने शकोंके विदेशी प्रभुत्वके विरोधमें सफल भारतीय स्वातंत्र्ययुद्धका संचालन कर, "शकारि" की पदवी प्राप्तकी। हम उसे शिक्षा व सभ्यताके अद्वितीय संरक्षकके रूपमें देखते हैं जिसने साहित्य और कलाके धुरन्धर पण्डितोंके रूपमें जगमगाते हुये नवरत्नों से अपने दरबारको सुशोभित किया था। इन नवरत्नोंमें से प्रत्येक अपने क्षेत्रमें क्रियात्मक कला का अद्वितीय भण्डार था और उस युगको प्रत्येकने अपनी अपनी विद्वत्ता और सभ्यताके प्रकाशसे आलोकित कर दिया था। इन अलग अलग जगमगाते हुये रत्नोंका सामूहिक प्रकाश कैसा रहा होगा, इसकी हम कल्पनाकर सकते हैं। विद्वत्ताकी उस चकाचौंधकर देनेवाली दीप्ति और आभा का महान् प्रकाश आज भी भारतके साहित्य-गगन को प्रकाशित कर रहा है। भारतीय स्वतंत्रता की सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ठ भावनाकी प्रतिमूर्तिके रूपमें भी विक्रमादित्य आज हमारे सामने है। राजनैतिक ऐक्यमें सफल होकर एक चक्रवर्ती सम्राटके रूपमें उसने भारतमें राष्ट्रीय एकता की भावना जागृत की थी। परन्तु वह चक्रवर्ती, शक्ति द्वारा विजित और शक्ति द्वारा शासित साम्राज्यकी अपेक्षा धर्मके साम्राज्यमें अधिक विश्वास रखता था।

इतिहासके एक विद्यार्थीके नाते मैं केवल यही कह सकता हूँ कि एक ऐसा ऐतिहासिक सम्राट है जिसे विक्रमादित्य की परम्पराओं से सम्बद्ध किया जा सकता है। वह चन्द्रगुप्त द्वितीय नामका महान् गुप्त वंशीय सम्राट हो सकता है जो अपनी विशेषताके लिये, अपने सिक्कों पर विक्रमादित्य की उपाधि तथा अन्य ऐसी ऐसी उपाधियों को जिनका सम्बन्ध विक्रम या पराक्रम से हो छपवानेके लिये परमउत्सुक था। उसने अपने को "सिंह विक्रम", "अजित विक्रम" और यहाँ तक कि "विक्रमादित्य" नाम से सम्बोधित किया है।

किन्तु इन उपाधियोंके अतिरिक सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय उस जनश्रुतिके "शकारि" विक्रमादित्यसे भी मिलता-जुलता है जो अजेय था, और जिसने भारतमें विद्यमान शक शासकोंको पराजित करके अपनी विजयों द्वारा मातृभूमिको

शत्रुओं से छुड़ाया था। अन्त में हम यह भी कह सकते हैं कि यह महान् गुप्त शासक भी सांस्कृतिक तथा समाजिक सिद्धान्तों में विश्वास करता था जैसा कि जनश्रुतिके विक्रमादित्यके सम्बन्धमें कहा जाता है।

वी० स्मिथभी इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि प्राचीन संस्कृतिके आधार पर भारतका शासन वैसा कभी नहीं हुआ जैसा कि इस शासकके समयमें था। इनके इस निष्कर्षका आधार प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियानके वे उल्लेख हैं जो चन्द्रगुप्तके शासन कालके भारतकी भौतिक व आध्यात्मिक उन्नतिके प्रमाणमें विद्यमान हैं। फाहियानने अपनी आँखोंसे उन सैकड़ों शिक्षा-संस्थाओंको देखा था जहाँ उनमेंसे प्रत्येकमें सहस्रों विद्यार्थियोंके निवास तथा उच्चसे उच्च शिक्षाका सुचारु प्रबन्ध था। यहाँ तक कि पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्तके केवल स्वातकी घाटीमें ही लगभग ५०० महाविद्यालय थे और पंजाबके प्रत्येक शिक्षालयोंमें लगभग दस हजार विद्यार्थी शिक्षा पाते थे जो वहीं रहते भी थे।

उस समय देशमें सार्वजनिक हितोंके समस्त साधन विभिन्नरूपमें वर्तमान थे। निःशुल्क औषधालयों, यात्रियोंको निःशुल्क निवास व भोजन प्रदान करने वाले विश्रामगृहों, निर्धनोंको सब प्रकारकी सुविधा प्रदान करने वाले धर्मशालाओं, तथा अपने विद्यार्थियोंको निःशुल्क निवास, भोजन, बिछौने, दवा, तथा शिक्षा प्रदान करने वाले शिक्षालयों व महाविद्यालयोंकी भरमार थी। हमें विभिन्न क्रम बद्ध घटना-चक्रोंके वादाविवाद में न पड़कर उनकी भावनाओंके आधार पर अपने राष्ट्रीय इतिहास का निर्माण करना चाहिये, क्योंकि वे ऐतिहासिक राष्ट्रीयनायकोंकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली क्रियात्मक शक्ति हैं।

विक्रम संवत्सर
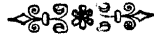
ले० डा० अ० स० आलतेकर, एम.ए., डी.लिट्.
अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास व संस्कृति विभाग,
काशी विश्वविद्यालय

विक्रम संवत् ईसवी सन् के पूर्व पहली शताब्दि में आरम्भ हुआ

गत शताब्दि में प्राचीन इतिहास पर पर्याप्त खोज हो चुकी है, अनेक शोध भी लगे हैं। परन्तु जो विक्रम संवत् आज सब उत्तर हिन्दुस्तान भर में प्रचलित है वह किसने स्थापित किया यह अध्याय एक अज्ञात गूढ़ ही है।

विक्रम संवत् ईसवीय सन् से ५६ वर्ष पूर्वही प्रारम्भ हुआ, यह निश्चित है, क्योंकि विक्रम संवत् की तिथि, मास, इत्यादिका मेल तभी ठीक बैठता है। एक काल ऐसा था जब फग्युसन सदृश कुछ विद्वान कहते थे कि विक्रम संवत् ईसाके ५०० वर्ष तक कहीं अस्तित्वमें ही नहीं था। ईसाके ५४४ वर्षमें विक्रमादित्य नामक राजाने हूणोंको परास्त किया जिसके स्मरणमें विक्रमादित्यने अपने नामका संवत् चालू किया और उसकी मूल तिथि ६०० वर्ष पूर्वकी रखी, जिससे लोगों को वह प्राचीन प्रतीत हो। परन्तु नवीन संवत् को प्रारम्भ करके उसकी आदि तिथिका कतिपय शतक पीछे निर्धारित किये जानेके उदाहरण इतिहासमें अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु फर्ग्युसन की उपरोक्त बात संभव इसलिए मालूम होती थी कि छठवें शतकसे पूर्व विक्रम संवत् का उल्लेख उस समय मिलताही नहीं था। लेकिन अब ईसाके तीसरे, चौथे और पाँचवें शतकोंमें भी इस विक्रम संवत्के उल्लेख मिलते हैं, इसलिए फग्युसनकी उपपत्तिका त्याग अपरिहार्य होगया है। अब उसका प्रवर्तक कौन है, और किस अभिप्रायसे यह चलाया गया इसका विचार करना है।

कुछ रूढ़ विचार

विक्रम संवत् के विषयमें अनेक मत विद्वानोंमें प्रचलित है। यदि यह संवत् ईसाके ५७ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ है तो इसका प्रवर्तक उस समय राज्य करनेवाला कोई प्रसिद्ध राजा होना चाहिये, यह स्पष्ट है। परन्तु उस समय विक्रमादित्य नामक किसी हिन्दू राजाके अस्तित्वका निश्चित व सर्वस्वी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता

है। इसलिए तत्कालीन पंजाबके पार्थियन राजा अभेसने इस संवत्सरको चलाया होगा, ऐसा सर जान माइलिका मत है (ज० रॉ० ए० सो० १९१४ पृ० ९८३)। अभेस राजाने प्रायः इसी समय एक संवत् चालू किया, यह सत्य है, परन्तु वह संवत् उसने अपनेही नामसे चलाया इसका प्रमाण नवप्राप्त शिलालेखोंमें पाया गया है। (कित्ता १९३२ पृ० ९४९)। इसलिए अभेसका संवत्‌ही विक्रम संवत् है, यह मत ग्राह्य नहीं। फ्लीट नामक दूसरे विद्वानका मत है कि कनिष्क राजाने विक्रम संवत् की स्थापनाकी। (कित्ता १९१३ कनिष्क विषयक चर्चा)। लेकिन कनिष्कका काल ईसाके ७८ वर्ष उपरान्त है, यह सिद्ध होचुका है। इसलिए यह मत भी उपेक्षणीय है। उत्तरी भारतमें यह संवत् चैत्रसे प्रारम्भ होता है। विक्रम संवत् का प्रारम्भ कार्तिक माससे होता है और इस समय लड़ाई प्रारम्भ करके "विक्रम" अर्थात् पराक्रम दिखानेकी ऋतुका प्रारम्भ होता है, इसीलिए संवत् की प्रारम्भिक ऋतुके नामसे "विक्रम" संवत् ऐसा नाम पड़ा, किसी राजाके नामसे नहीं, ऐसा कील हॉर्नेका मत है (इन्डियन ऐन्टिक्वेरी १८९१ पृ० ४०३-४)। परन्तु ऋतुके नामसे संवत् का नाम निर्धारित किये जानेका इतिहासमें कहीं प्रमाण प्राप्त नहीं है। इसलिए इस मतको भी स्वीकार करना ठीक नहीं है।

विक्रमादित्यका नाम कब रूढ़ हुआ ?

विक्रमादित्य राजाने विक्रम सम्वत्‌की नीव डाली होगी यह एक स्वाभाविक कल्पना हो सकती है। परन्तु शालिवाहन शकके सम्बन्धमें शालिवाहनके नामका उल्लेख जिस प्रकार प्राचीन शिला लेखोंमें लुप्त है उसी प्रकार इस विक्रम सम्वतसर के विषयमें भी है। ११-१२ शतकोंसे इस सम्वत्‌का उल्लेख विक्रम नृप कालातीत सम्वत्सर' (वि० स० ११९५ का लेख), 'श्री विक्रमादित्योत्पादित सम्वत्सर' (वि० स० ११७६ का लेख, 'श्री विक्रमार्कनृप कालातीत सम्वत्सराणाम्' (वि० स० ११६१ का लेख), 'विक्रमादित्यकाले' (वि० स० १०९९ का लेख), 'विक्रमादित्य भूभृतः काले' (वि० स० १०२८ का लेख), 'कालस्य विक्रमाख्यस्य' (वि० स० ८९८ का लेख) इस प्रकारसे किया हुआ मिलता है*। इस आधार पर ईसाके ११-१२ शतकोंमें यह सम्वत् विक्रमादित्य नामके प्रतापी राजाने ईसाके पूर्व प्रथम शतकमें लगभग ५७ वर्ष पर स्थापित किया-ऐसा लोगोंका (तत्कालीन) विश्वास था, यह निर्विवाद है। लेकिन यहाँ भी एक बात विचारणीय है कि इस कालके जो शिलालेख उपलब्ध

*एपिग्राफिया इन्डिकाके १९ से २३ भागमें डॉ० देवदत्त पंत भांडारकरने प्राचीन लेखोंकी सूची शकोंके क्रमसे दी है, उसमेंसे उद्धृत लेख कहाँ छपे हैं, यह देखा जासकता है।

हुये हैं, उनमें से प्रायः १५ प्रतिशत लेखोंमें ही विक्रमादित्यका साक्षात् सम्बन्ध इस सम्वत्से जोड़ा गया है। शेष ८५ प्रतिशत लेखोंमें इस काल गणनाका उल्लेख केवल 'सम्वत् १२५३' सम्वत्सरेषु 'द्वादशशतेषु' ऐसा सामान्यरूपसे ही है, और इस प्रणालीके अनुसार सम्वत, अर्थात् विक्रम सम्वत्, ऐसा मान लेनेकी प्रथा चली दिखाई देती है।

प्राचीन कालमें क्या यह नाम प्रचलित था ?

परन्तु जैसे जैसे प्राचीन कालके लेखोंका अवलोकन किया जाता है वैसे वैसे विक्रमादित्य का इस सम्वत्से सम्बन्ध क्रमशः कम होता हुआ दिखाई देता है।

विक्रम सम्वत्के दसवें शतकके ३४ शिलालेख अब तक उपलब्ध हो सके हैं। उनमें से ३२ शिलालेखोंमें इस कालगणनाका उल्लेख 'सम्वत्' ऐसा सामान्य रूप से किया हुआ दिखाई देता है, केवल उत्तर हिन्दुस्तानमें बीजापुरमें प्राप्त राष्ट्रकूट विदग्धराजके विक्रम सम्वत् ६७३ के लेखमें 'विक्रमकालेगते' ऐसा इस सम्वत्का उल्लेख है और उसमें सम्वत्का सम्बन्ध विक्रमसे किया गया है। इसके विपरीत ग्वालियर स्टेटके ग्यारासपूर स्थानमें उपलब्धविक्रम सं० ६३६ के लेखमें इस कालगणनाको "मालवकाल" नाम दिया हुआ मिलता है :—

'मालवकालाच्छारदां षट्त्रिशत्सयुगष्वतीतेषु'।

नववें शतकके दस लेख उपलब्ध हुये हैं उनमेंसे केवल सं० ८६८ के एक लेखमें इस संवत्सरको विक्रमका नाम दिया गया है—"वसु-नव-अष्टौ-वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य" बाकीके ६ लेखोंमें उसका 'संवत्' 'संवत्सर' ऐसा सामान्यतया उल्लेख किया है।

विक्रम संवत्के ८वें शतकके ७ लेख उपलब्ध हैं, उनमेंसे केवल काठियावाड़में ढिंकणी मुकाम पर मिले हुये ताम्रपत्रमें तो 'विक्रम संवत्सरशतेषु सप्तसु' ऐसा विक्रमके नामका उल्लेख है। शेष लेखोंमें संवत्सरोंका कोई नामही नहीं दिया गया है। परन्तु यह ढिंकणीमें प्राप्त ताम्रपत्र उत्तरकालीन और बनावटी है ऐसा प्रस्तुत लेखकने अब निःसंशय सिद्धकर दिया है (एपिग्राफिया इन्डिका भा० २६ पृ० १८६)।

विक्रम संवत् अथवा मालव संवत् ?

परन्तु सातवें शतकके यदि पूर्वमें जाइये तो इस संवत्को 'मालव सम्वत्' ऐसा नाम दिया हुआ मिलता है, मन्दसोरके सं० ४९३ के लेखमें इस सम्वत् का वर्णन निम्नलिखित प्रकारसे दिया है :—

(१) **मालवानां गणस्थित्या** याते शतचतुष्टये।
त्रिन्नवत्यधिकेऽब्दानां ऋतौ सेव्यघनस्तने ॥

इसी स्थान पर मिले हुये वि० सं० ५८९ के दूसरे एक लेख में

(२) 'मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु'

ऐसी इस शककी उपपत्ति निरूपणकी है। कोटा स्टेटके कणस्वा ग्राममें ग्वालियर स्टेटके ग्यारासपूर स्थानमें मिले हुये ९३६ के लेखमें इस सम्वत्सरको 'मालवेशों'का सम्वत्सर और 'मालवदेशका काल' ऐसा सम्बोधित किया गया है।

"मालव" सम्वत् वा "कृत" सम्वत्?

लेकिन प्रायः इसी समयके और इसके पूर्वके लेख यदि देखे जायँ तो उनमें इस काल-गणना को "कृत" काल-गणना ऐसा नाम दिया हुआ मिलता है।

(३) विक्रम सं० ४८१ नागरी लेख :—

कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेषु एकाशीत्युत्तरेषु अस्यां मालवपूर्वायाम्।

(४) विक्रम स० ४८० राजपूतानेके गंगधारका लेख—श्री **मालव गणाम्नाते** प्रशरे **कृत संतिते**। एकषष्ठ्यधिके प्राप्तेऋतौसेव्यधनस्तने॥

(५) भरतपुर संस्थानातीत विजयगढ़का लेख :—कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वशर्विंशेषु।

(६—७) विक्रम संवत् ३३५ व २८४ के लेख; बर्नाका (जयपुर संस्थान का) यूपलेखः—कृतेहि (=कृतै) ३३५ ज्येष्ठ शु० १५

कृतेहि (=कृतैः) २८४ चैत्र शु० १५

(८—१०) विक्रमीय संवत् २९५ के बड़वा (कोटा के) तीन यूप लेख :—
कृतेहि (=कृतैः) २९५ फाल्गुन शुक्ल ५

(११) विक्रम संवत् २८२ का उदयपुर स्थान के नांदसाका यूप लेख :—
कृतयोर्द्वयोर्वर्षशतयोर्द्व्यशीतयोः चैत्रपूर्णमास्याम्।

विक्रम सम्वत्, मालव सम्वत् व कृत सम्वत् एक ही हैं।

पहिले सात शतकोंके लेखोंमें उपलब्ध इस काल गणनाको विक्रम सम्वत् ऐसा सम्बोधन नहीं किया गया है। इतनाही नहीं बल्कि उसको "मालव-काल" व "कृतकाल" नाम दिये हुये मिलते हैं। कृतकाल अथवा मालवकाल विक्रम सम्वत् नहीं हैं, ऐसी शंका करनेका भी अवसर नहीं है, क्योंकि दूसरे असंदिग्ध प्रमाणोंसे ये नाम ईसासे ५७ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुये संवत्को ही दिये गये थे, ऐसा स्पष्ट होता है। उदाहरणार्थ, मंदसोरके लेखमें मालवगण ४९३ वर्ष अर्थात्

विक्रम सम्वत्का ही वर्ष लिखा है। क्योंकि उस समय गुप्तवंशीय सम्राट् कुमार गुप्त राज्य करते थे और उनका काल ई० स० ४१४ से ४५४ का है। ऐसी परिस्थितिमें यदि उसके राज्यकालमें संवत्का ४९३वाँ वर्ष आया तो उस संवत्का प्रारम्भ ई० स० पू० के पहिले शतकके मध्यके आस-पास होना चाहिये, अर्थात् वह संवत् विक्रम सम्वत्ही होगा। क्योंकि दूसरे किसी देशी संवत्के उस समयके लगभग प्रारम्भ होनेका अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला है।

शिला लेखोंके आधार पर विक्रम सम्वत्को विक्रमादित्य नामके राजाने प्रचलित किया होगा, इस कल्पनाको बहुत विश्वसनीय नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो पहले ७०० वर्षोंमें उस सम्वत्को विक्रमादित्यके नामसे सम्बोधित क्यों नहीं किया जाता रहा? इसका कोई समुचित कारण नहीं दिया जा सकता है।

अब साहित्यिक ग्रंथोंके अवलोकनसे क्या परिणाम निकलता है, इसको भी देखना चाहिए:—

जैन ग्रंथोंके आधार पर प्रचलित रूढ़ विचार

१३वें शतकमें लिखे गये 'प्रभावक चरित' नामक जैन ग्रंथमें एक "कालकाचार्य कथा" नामक कहानी है। उस कहानीमें उज्जैनके विक्रमादित्य नामके राजाने शकोंको पराजित करके यह 'सम्वत्' ई० स० पू० ५७ वर्षके लगभग स्थापित किया, ऐसा उल्लेख है। यह कहानी विक्रम सम्वत्के विचार विमर्शमें बहुत महत्वपूर्ण है। इसलिये सारांशमें कहानीका उल्लेख नीचे किया जाता है।

कालकाचार्यकी कहानी:—

प्राचीन कालमें धारा नगरीका वीरसिंह नामका राजा था। उसका पुत्र कालक और उसकी कन्या सरस्वती थी। दोनों ही सूरिगुणाकर नामके जैन भिक्षुके प्रभावसे संसारमें लिप्त न होकर सन्यासी हो गये। गुणाकरभिक्षुके उपरान्त कालक पीठका अधिपति हुआ। अपनी बहिनके साथ वह एक बार उज्जैन गया। उस समय गर्दभिल नामका एक लम्पट दुराचारी राजा उज्जैनमें राज्य करता था। उसकी कुदृष्टि सरस्वती पर पड़ी और उसका उसने अपहरण किया। कालकने अपनी बहिनको छुड़ानेके लिये बहुत अनुनय-विनय किया पर सब व्यर्थ हुआ और निराश होकर बदला लेनेके विचारमें वह सिंध प्रांतमें गया।

शकराजा द्वारा गर्दभिलकी पराजय

सिंध देश उस समय शकोंके आधीन था। वहाँ ९६ मांडलिक शक राजा राज्य

करते थे, और उन सबके ऊपर एक शक सम्राट्का शासन था। मांडलिक राजाओंको "शाही" तथा सम्राट्को "शहानुशाह" कहा जाता था। इनमें से एक मांडलिक राजासे कालकाचार्य की शीघ्र ही मैत्री हो गई। कुछ समय पश्चात् शक सम्राट्की कालकाचार्यके मित्र मांडलिक राजापर कुदृष्टि पड़ी और सम्राट् के रोषसे निस्तार पानेके लिये कालकाचार्यने अपने मित्र मांडलिक राजाको रातोरात काठेवाड़ देशमें भाग जाने की सलाह दी। इस सलाहको मानकर वह काठेवाड़ चला गया और उसके बाद अन्य शक मांडलिक राजाभी धीरे धीरे वहीं पहुँच गये। इन ९६ राजाओंने काठेवाड़में अपनी अपनी छोटी छोटी रियासतें स्थापित करलीं।

कुछ समय बाद कालकाचार्यकी प्रेरणासे उसके परम स्नेही शक राजा ने उज्जैनके गर्दभिल्ल राजा पर चढ़ाई कर दी तथा उसीकी सुझाई हुई विधिसे गर्दभिलको पराजित भी किया। गर्दभिल बादमें एक जंगलमें शेरका शिकार हुआ। गर्दभिलका पराजय हो जाने पर कालकाचार्यकी बहिन सरस्वतीका छुट-कारा हुआ। कालकाचार्यने सरस्वतीके अपहरण पर गर्दभिलके नाश तथा अपनी बहिनके उद्धार की जो प्रतिज्ञाकी थी वह पूरी हुई। कालकाचार्य भड़ोच पैठण आदि स्थानों पर किस प्रकार गये और वहाँके राजा किस प्रकार जैन धर्मानुयायी हुये इसका आगे उल्लेख है, परन्तु उस विवरणसे यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है।

विक्रमादित्य द्वारा शकोंका पराजय व सम्वत् स्थापना

पहिले ८९ श्लोकोंमें गर्दभिलका पराजय कैसा हुआ व उज्जैनमें शकराज्य किस प्रकार चालू हुआ इसका प्रकरण है, इसके बाद लिखा है—

शाकानां वंश मुच्छेद्य कालेन कियतापिहि।
राजा श्रीविक्रमादित्य, सार्वभौमोपमोभवत् ॥ ९०
सचोन्नत महासिद्धिः सौवर्णपुरुषोदयात्।
मेदिनीमनृणां कृत्वाऽ चीकरद्वत्सरंनिजम् ॥ ९१
ततोवर्ष शतेपंचत्रिंशता साधिके पुनः।
तस्य राज्ञोऽन्वयं हत्वा वत्सरःस्थापितःशकैः ॥ ९२

उपरोक्त श्लोकोंसे यह सिद्ध होता है कि गर्दभिलको पराजित करके जो शक राजा उज्जैनमें राज्य करने लगा, उसको कुछ काल पश्चात् विक्रमादित्य नामक राजाने पराजित किया और अपनी मातृभूमिके ऋणको चुकाया। इसीकी स्मृतिस्वरूप उसने अपना संवत् स्थापित किया व इसके १३५ वर्ष उपरान्त शकोंने उसके वंशजों को पराजित करके अपना "शक" चालू किया।

कथानक कहाँ तक सत्य है ?

कालकाचार्य कथानक यद्यपि १३वें शतकमें लिखा गया है तब भी उसमें ऐतिहासिक सत्य काफी है, इसमें संशय नहीं। ईसाके पूर्व प्रथम शतकके मध्यके लगभग, कथानकके अनुसार, सिंधमें शक राजा राज्य करते थे और उनको "शाही" नामसे सम्बोधन किया जाता था। यह निर्विवाद सत्य है। ईसाके पूर्व ६०के लगभग उज्जैन तक शकों का राज्य कुछ काल तक रहा, इसका ऐतिहासिक प्रमाण भी है। तब कालकाचार्य कथानकके अनुसार उज्जैनमें कुछ काल तक राज्यासीन शक राजाका पराजय, ईसाके पूर्व ५६-५७ के लगभग, विक्रमादित्य नामके राजाके द्वारा होना पूर्णतया संभव है, इसमें सन्देह नहीं।

सम्वत् स्थापनाके श्लोक प्रक्षिप्तमालूम होते हैं !

इतने पर भी इस कथानक से विक्रमादित्य का शकों को पराजित करना और ईसाके पूर्व ५७के लगभग अपना विक्रम सम्वत् स्थापित करना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि एक तो कथानक बहुत ही अर्वाचीन है अर्थात १३ वें शतक का है फिर उस समय तक जमे हुये विचारोंका इसमें अन्तर्भूत होना भी स्वाभाविक है। दूसरी बात यह है कि परम्परागत मूल कथायें ऊपर दिये हुए श्लोकोंके आशय का विषय नहीं है। उनको प्रभावक ने रूढ़ विचारोंके अनुसार पीछेसे ग्रन्थ लिखते समय डाल दिया होगा, ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है। इन तीन श्लोकों से कथा प्रवाहमें बाधा पड़ती है। इन श्लोकों का इस कथामें कोई महत्व भी नहीं हैं, क्योंकि मूल कथानकमें देश-द्रोही कालकाचार्य को जिस राजाने सहायता दी उसीके पराक्रम का वर्णन करना स्वाभाविक है। उसका आगे चलकर विक्रमादित्य ने किस प्रकार नाश किया, इस वर्णन का कोई प्रयोजन ही नहीं प्रतीत होता है और फिर ऐसे स्थल पर जहाँ उससे कथा रस की हानि भी हो रही है। कुछ देरके लिये यदि यह मान लिया जाये कि वह घटना तत्काल घटित होनेके कारण उसका कथानकमें उल्लेख आया है तब भी आगे चलकर ९२ वें श्लोकमें फिर १३५ वर्षके बाद इस विक्रमादित्यके वंशजोंको पराजित करके शक राजाओंने अपना संवत् स्थापित किया यह कहने का क्या प्रयोजन हो सकता है? तात्पर्य यह निकलता है कि श्लोक ८९-९२ तकका वर्णन मूल जैन परम्परामें नहीं था। १३ वें शतकी रूढ़ कल्पनाका अनुसरण करके प्रभावकने उसको इसमें डाल दिया है। यदि यह घटना ईसाके पूर्व पहले शतकसे लोकविश्रुत होती, तो इस सम्वत्को प्रथम "कृत सम्वत्" व बादमें "मालव सम्वत्" ऐसे नाम कैसे दिये जाते ?

"शत्रुंजय माहात्मय" का प्रमाण भी अग्राहे

प्राचीन कालमें इस सम्वत्‌को विक्रमादित्यका नाम प्राप्त था, यह सिद्ध करने के लिये यदा-कदा जैनोंके 'शत्रुंजय माहात्म्य' नामक ग्रंथका प्रमाण दिया जाता है (कनिंगहम-ए बुक आफ इन्डियन एराज, पेज ४६) । विक्रमसम्वत्सरके ४७७वें वर्षमें यह ग्रंथ लिखा गया था, ऐसा उसके अन्तमें लिखा है । यह बात यदि सत्य मानली जाय तो पाँचवें शतकमें गुजरातमें इस सम्वत् का नाम विक्रम सम्वत् कहकर प्रसिद्ध था, यह सिद्ध होता है, परन्तु उपरोक्त बात एकदम असत्य है। बलभीके शिलादित्य राजाने काठेवाड़से बौद्ध लोगों को जिस विक्रम सम्वत् ४७७ में निकाल बाहर किया उस साल यह ग्रंथ समाप्त हुआ ऐसा यह ग्रंथकार कहता है । यह बात "शिवाजी महाराजने थानेश्वरमें जिस १३६१ सालमें मुहम्मदगोरी का पराजय किया, उस वर्षमें 'काव्यप्रकाश' यह ग्रंथ समाप्त हुआ" के समान है । ईसाके ४२०वें वर्षमें वलभीमें शिलादित्य राजा था ही नहीं, क्योंकि उस समय वहाँ गुप्त सम्राट् कुमारगुप्तका शासन था। वलभीका पहिला शिलादित्य ईसाके ६०५ में राज्य करता था, और सातवाँ ७६६में । ईसाके ४२० में शिलादित्य का उल्लेख करके ग्रंथकारने अपने इतिहासके अगाध अज्ञानका परिचय दिया है। दूसरे निःसंशय ऐतिहासिक प्रमाणोंसे सिद्ध है कि शत्रुंजयमाहात्म्यका बारहवें शतक की समाप्तिके पूर्व लिखा जाना असम्भव है और यह अब सिद्ध हो चुका है (विन्टर्निट्स—ए हिट्री आफ इन्डियन लिटरेचर (Eng) पार्ट २ प्रष्ठ५०३)। इस स्थितिमें ग्रंथ समाप्तिके वाक्यसे पाँचवें शतकमें विक्रमसम्वत् प्रसिद्ध था ऐस प्रमाणित नहीं होता ।

जैन परम्पराका प्रमाण

श्वेताम्वर जैन ग्रंथमें वीर निर्वाण कालोपरान्त ४७० वर्ष पर शकोंको पराजित करके उज्जैनके विक्रमादित्य राजाने विक्रम सम्वत्‌की स्थापनाकी, ऐसे लेख प्राप्त होते हैं । यदि ये ग्रंथ विक्रम सम्वत्‌के पहिले या दूसरे शतकके होते तो उनका प्रमाण निर्णयात्मक माना जाता। परन्तु वे बहुत अर्वाचीन हैं । व उनमें के विधान दिगम्बर जैन ग्रंथोंके विधानोंसे मेल नहीं खाते, क्योंकि उनमें वीर निर्वाण विक्रम सम्वत्‌के पूर्व ५४८ वर्षमें हुआ ऐसा कहा गया है । श्वेताम्बरों के मतानुसार महावीरका निर्वाण ईसाके पूर्व ५२७ वर्षमें और दिगम्बरोंके मतानुसार ईसाके पूर्व ६०५ वर्षमें हुआ है । लेकिन ऐतिहासिक प्रमाणोंसे वह ईसाके ४७० वर्ष पूर्व हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार जैन परम्परा बेमेल, पर्य्याप्त

उत्तरकालीन और ऐतिहासिक प्रमाणोंके अनुकूल नहीं है। इसलिये उसका स्वीकार करना तथा विक्रमादित्य द्वारा विक्रम सम्वत् स्थापित हुआ, ऐसा मान लेना नहीं बनता है।

बौद्ध तथा संस्कृत वाङ्मय

बौद्ध वाङ्मयमें विक्रमादित्यके विषयमें कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं है। संस्कृत वाङ्मयमें "वेतालपंचविंशति" "सिंहासन बत्तिसी" आदि ग्रंथोमें विक्रमादित्य सम्बन्धी अनेक कथायें और आख्यायिकायें मिलती हैं। लेकिन इन ग्रंथों के अर्वाचीन होनेके कारण उनकी बातोंसे विक्रम सम्वत्की उत्पत्तिपर पर्याप्त तथा विश्वसनीय प्रकाश नहीं पड़ सकता है। पुराणग्रंथ चौथे शतकमें लिखे गये हैं और उनमें गुप्त सम्राट् तकका विवरण मिलता है। ईसाके पूर्व के पहले, व दूसरे शतकोंमें तथा ईसाकी प्रथम व द्वितीय शताब्दियोंमें होनेवाले विदिशा, उज्जैन व मालवके राजाओंके नाम पुराणोंमें दिये हैं, लेकिन उनमें विक्रमादित्यके नामका उल्लेख नहीं है अथवा विक्रमादित्य द्वारा किसी संवत् स्थापनका भी वर्णन नहीं है।

शिला लेख, जैन, बौद्ध व संस्कृत वाङ्मय इनका यदि विचार किया जाय तो विक्रमादित्य नामक राजाने विक्रम सम्वत् स्थापित किया, ऐसी कल्पना समाजमें आठवें शतक तक तो प्रस्तुत नहीं थी, यह निर्विवाद सिद्ध होता है। फिर इस सम्वत् की स्थापना किसने की? इस प्रश्नका यदि उत्तर चाहिये, तो ऊपर उद्धृत किये गये शिलालेखोंसे प्राचीन कालके १२ उल्लेखोंका ही विचार करके उसीसे निष्कर्ष लेना होगा।

विक्रम सम्वत् अर्थात मालव लोगोंका सम्वत्

शिला लेखोंसे ऊपर उद्धृत किये गये क्रम १, २, व ५ इन वाक्योंसे विक्रम सम्वत् मालव लोगोंने स्थापित किया, ऐसा कुछ विद्वानोंका मत है। मालव लोग अत्यन्त प्रतापी थे, उन्होने अलेकजेण्डरको भी खूब छकाया था। उनका प्रजा सत्तात्मक राज्य था। प्रथम वे दक्षिणी पंजाब व उत्तर सिंधमें रहा करते थे। पर आगे चलकर वे पहिले राजपूतानेमें व पीछे मालवामें आकर राज्य करने लगे। उनको कुछ काल तक शकोंके मुकाबलेमें सर झुकाना पड़ा, पर ईसाके पूर्व ५७ वर्षमें उन्होंने शकोंको पराजित किया और अपना प्रजा सत्तात्मक शासन पुनरपि स्थापित किया, और उसके संस्मरणार्थ मालव-संवत् की स्थापना की। ऊपर उद्धृत किये गये 'मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये' और 'मालवगण स्थितिवशा त्कालज्ञानाय विहितेषु' इन वाक्योंमें "गण" अर्थात् प्रजा-सत्तात्मक

राज्य और 'स्थिति' अर्थात् राज्य-घटना (कॉन्स्टीटयूशन) ये अर्थ अभिप्रेत हैं। उन वाक्योंके अर्थ क्रमसे 'मालव लोगोंके प्रजासत्तात्मक राज्यघटनाको चार शतक होजाने पर' और 'मालव लोगोंने प्रजासत्तात्मक राज्य घटनासे सम्बद्धजो कालगणना प्रारम्भ की थी,' ये हैं। गुप्तसम्वत् का नाम भी आगे चलकर बदल दिया गया और जैसे 'बलभिसंवत्' नाम प्रचारमें आया वैसेही आगे चलकर 'मालव सम्वत्' भी विक्रम-संवत्के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

इन मतों पर आक्षेप

यह विचारधारा आदिसे अन्त तक निर्दोष प्रतीत होती है, लेकिन इसको स्वीकार करनेमें भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। मालव लोगोंकी प्रजा सत्तात्मक राज्य घटना (प्रणाली) अत्यन्त प्राचीन कालसे चली आती थी। उनका यद्यपि पराजय हुआ, फिर भी उनके सर्वथा पदभ्रष्टहो जानेका कोई प्रमाण नहीं मिलता है। सामान्यतः 'स्थिति' इस शब्दके माने 'राज्य-घटना' न होकर 'परम्परा' 'सम्प्रदाय' 'चाल' ऐसा होता है। और उपरोक्त वाक्योंका अर्थ मालवा प्रजा-सत्तात्मक राज्योंमें रूढ़ हुई काल गणनाके अनुसार इतने वर्ष होजाने पर करनाही सयुक्तिक होगा।

'कृत' नामकी उपपत्ति

मालव लोगोंमें ही विक्रम सम्वत् यदि प्रारम्भ हुआ हो और वही यदि आगे चलकर 'मालवकाल' नामसे प्रसिद्ध हुआ हो, तो भी प्रथम उसको 'कृत' सम्वत्सर ही कहा जाता था, यह ऊपर उद्धृत किये गये ३ से १२ क्रमांकोके शिला-लेखोंके अवतरणोंसे प्रतीत होता है। क्रम ७ से १२ के शिलालेख प्रस्तुत लेखक ने हाल हीमें प्रसिद्ध किये हैं, उसके पूर्व कृत सम्वत्सर नामका बहुत थोड़ा उल्लेख मिलता था, इसके अनेक प्रमाण हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री (एपि-ग्राफिया इण्डिका, भाग १२ पृ० ३२०) का ऐसा मत था, कि 'मालव सम्वत्' ही इस शकका मूल नाम है। लेकिन उसमें चार वर्षोंका एक 'युग' होता था, और इस युगके पहले वर्षको कृत, दूसरेको त्रेता, तीसरेको द्वापर व चौथेको कलि कहते थे। शास्त्री महोदयने इस मतका जब प्रतिपादन कियाथा उस समय क्रम ४—६ के ही शिलालेख उपलब्ध थे और अपने मतकी सुविधानुसार उन्होंने क्रम ५—६ के सम्वत् ४८० व ४२८ को समाप्त वर्ष समझ कर उनका समारब्ध ४८१ व ४२९ से समीकरण किया था और जिस-जिस स्थान पर 'कृत' कह कर लिखा गया है, उस-उस स्थान पर उन वर्षोंकी संख्याको ४ से भाग दो तो शेषमें १ बचता है, इस दृष्टिमें उस वर्षको 'कृत' वर्ष कहा गया है, ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु प्रस्तुत

लेखकके प्रसिद्ध किये हुये क्रम ७ व ९ से ११ शिलालेखोंमें ३३५, २९५ व २८२ इन वर्षोंको भी 'कृत' ही नाम दिया है, और उन वर्षोंको चालू माना जावे अथवा समाप्त माना जावे उनको ४ से भाग देने पर १ बाकी नहीं रहता। इस अवस्थामें म० म० हरिप्रसाद शास्त्री कृत 'कृत' नामकी उपपत्ति ग्राह्य नहीं रहती है।

डा० देवदत्तकी मनोरंजक उपपत्ति

विक्रम सम्वत्का मूल नाम मालव सम्वत् ही है और उसको "कृत" नाम इसलिये दिया गया था कि वह संवत् ज्योतिषियों द्वारा अपनी सुविधाकी दृष्टिसे 'किया हुआ' "कृत" था। यह मत डा० देवदत्त भांडारकर ने एक बार प्रतिपादित किया था, (इन्डियन एन्टिक्वेरी भाग ४२ पृ० १६२), लेकिन आगे चलकर उन्होंने इसको छोड़कर एक दूसरी मनोरजक उपपत्ति दी है। ईसाके पूर्व दूसरे व पहिले शतकोंमें शकोंका अत्याचारपूर्ण राज्य चालू था, जिसको लोगोंने कलियुगके समान माना था। आगे चलकर शुंगवंशके पुष्यमित्र ने उनका पराजय करके जब ब्राह्मण धर्मको उत्तेजन देना प्रारम्भ किया तब ब्राह्मणोंको कृत युग प्रारम्भ हुआ ऐसा प्रतीत होने लगा। इसके संस्मरणार्थ उन्होंने नवीन संवत् स्थापित किया और उसको 'कृत' नाम दिया (इन्डियन एन्टिक्वेरी, भाग ६१ पृ० १०१—१०३)

उपरोक्त विचारधारा भी ग्राह्य नहीं प्रतीत होती। कृतयुग ईसाके पूर्व ५७वें सालमें प्रारम्भ हुआ था, अर्थात् एक प्रकारसे एक नवीन संवत्ही स्थापित हुआ। यह कल्पना यदि लोगोंमें रूढ़ होती तो आगे चलकर पुराणोंमें अभी कलियुगका ही प्रारम्भ है ऐसे सहस्रों वाक्य कैसे आये होते? पुराणोंमें पुष्पमित्र राजाका व उसके पराक्रमका उल्लेख है, परन्तु उसके शक स्थापित करनेका विधान कहीं नहीं है। पुष्यमित्रका काल भी लगभग ईसाके पूर्व १८० से १६० तक था। ईसाके पूर्व ६० के लगभग नहीं था यह अब सर्वमान्य हो चुका है।

सम्वत्का मूल नाम 'कृत' ही है.

ऊपर उद्धृत किये गये सम्वत् ४६१ के लेखोंमें मालव लोगोंमें रूढ (श्री-मालव गणाम्नात) तथा 'कृत' विशेष नामसे सम्बोधित (कृत संज्ञिते) ऐसा इस सम्वत्सरका वर्णन मिलता है। इस प्रकार इस सम्वत्के अबतक विदित नामोंमें सबसे पुराना नाम 'कृत' था इसमें शंका नहीं रहती है। सम्वत् ४६१ सालके पहिलेके किसी भी शिलालेखमें इस सम्वत् को मालवोंका नाम नहीं दिया गया है। ईसाके तीसरे और चौथे शतकोंके सबसे प्राचीन लेख प्रसिद्ध हुये हैं। उन

सबमें इस सम्वत्सरको 'कृत' नामसे संबोधित किया गया है। यह ऊपर उद्धृत किये गये क्रम ७ से १२ इन वाक्योंसे प्रतीत होता है। आगे चल कर कुछ समय तक यह सम्वत् "कृत" व 'मालव' इन दोनों नामोंसे प्रसिद्ध रहा है। लेकिन पाँचवें शतकके अन्तमें 'कृत' के स्थान पर 'मालव' नाम ही रूढ हुआ, और आगे चल कर 'मालव' नाम भी छूट गया तथा विक्रम सम्वत् नाम धीरे-धीरे रूढ होता गया।

"कृत" नामकी उपपत्ति

कृत वर्ष अर्थात् 'बनावटी वर्ष', 'बीता हुआ वर्ष', 'चतुर्वार्षिक युगों में का पहिला वर्ष' और 'कृत युगका वर्ष' इत्यादि उपपत्ति क्यों नहीं स्वीकार की जा सकती यह ऊपर दिखाया जा चुका है। मुझको ऐसा मालूम होता है कि इस सम्वत्को 'कृत सम्वत्' इसलिये कहा जाता था कि यह 'कृत' नामके राजाने अथवा नेताने प्रारम्भ किया होगा।

'छत्रपति (राज) संवत्' छत्रपति शिवाजीने प्रारम्भ किया था चालुक्य विक्रम संवत् विक्रमादित्य राजाने (११७५ में) प्रारम्भ किया था, 'हर्ष' शक हर्ष राजाने प्रारम्भ किया था, 'गुप्त' शक गुप्त राजाओंने प्रारम्भ किया था, इसी प्रकार 'कृत शक' कृत नामके राजाने अथवा प्रमुख व्यक्तिने प्रारम्भ किया होगा, ऐसा मान लेना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। यदि कोई कहे कि 'कृत' किसी व्यक्तिका नाम होना कहीं प्रसिद्ध नहीं है तो मानना होगा कि यह एक बड़ा दोष इस उपपत्तिमें है। लेकिन यह भी आक्षेप टिकने योग्य नहीं है। यह सत्य है कि १०००, १५०० वर्षोंमें 'कृत' नामके राजाके होनेका पता नहीं चलता है, परन्तु पुराणोंकी ओर दृष्टि डालने से 'कृत' नाम एक समयपर बहुत प्रचलित था, ऐसा प्रतीत होगा। विश्वेदेवोंमें से एकका नाम 'कृत' था। वसुदेवके रोहिणी से उत्पन्न एक पुत्रका भी यही नाम था, हिरण्यनाभका कृत नामका एक शिष्य था। उपरिचरके पिताको 'कृत' नामसे सम्बोधित किया जाता था। तब कृत नामके व्यक्ति का होना ही सम्भव नहीं, यह आक्षेप निर्मूल ठहरता है। प्राचीन कालमें यह नाम खूब रूढ था।

कृत द्वारा किये हुये पराजयका स्मारक

जिस प्रकार ईसाके पूर्व ५७ वर्षके लगभग शक लोगोंने कुछ कालके लिये उज्जैन पर अधिकार किया था और बादमें उनको उज्जैन खाली करना पड़ा, जैसा कि ऐतिहासिक प्रमाणोंसे प्रतीत होता है, उसी प्रकार प्राचीन परम्पराके अनुसार विक्रम सम्वत् भी शक लोगोंके पराजयके स्मरणार्थ प्रारम्भ किया गया होगा, यह

सर्वस्वी संभवनीय है। यह काल-गणना सर्व प्रथम मालव देशमें ही प्रारम्भ हुई थी, व उसको मालव लोगोंकी स्वीकृत काल गणना "श्रीमालव गणाम्नात" ऐसे सम्बोधित किया गया है। ईसाके पूर्व दूसरे व पहले शतकोंमें मालव लोग राजपूताना व मालवामें प्रबल थे, तब शक लोगों का जो ईसाके पूर्व ५७के लगभग पराजय किया गया, वह मालव प्रजासत्ताक राज्य द्वारा ही किया गया, यह स्पष्ट है। उस समय प्रजा सत्तात्मक राज्यका जो अध्यक्ष अथवा यशस्वी सेनापति रहा होगा उसका नाम कृत, होगा। इसलिये उसके इस पराक्रमका गौरव करने के लिये जो संवत् स्थापित किया गया उसको 'कृत' नाम दिया होगा। 'कृत' को उसके पराक्रमके लिये 'विक्रमादित्य' यह पदवी मिलना स्वाभाविक था। लेकिन ऐसी पदवी उसको उसके समकालीनों द्वारा दिये जानेका अभी तक तो कोई प्रमाण नहीं मिलता है। उसके नामसे जो संवत् शुरू किया गया वह 'कृत' इसी नामसे ३-४ शतक तक पुकारा जाता था। आगे चलकर लोगों को उसके पराक्रम की विस्मृति होने लगी, और यह कालगणना मालव प्रजा सत्ताक राज्यमें ही विशेषतः रूढ़ थी, इसलिये उसका मालव सम्वत् नाम पड़ गया। आठवें नवें शतकों तक यह सम्वत् मालवा व उसके आस-पास राजपूतानेके कुछ भागोंमें ही रूढ़ था। आगे चलकर वह बुंदेलखंड, संयुक्तप्रान्त, राजपूताना, गुजरात, काठेवाड़, इन प्रान्तोंमें भी फैल गया। तब उसका मालव सम्वत् नाम पीछे पड़ गया "और विक्रम सम्वत्" नाम प्रचलित हो गया।

विक्रमका नाम प्रचारमें कैसे आया ?

यह नया नाम क्यों प्रचारमें आया इस सम्बन्धमें निर्णायक कारण बता सकना आज भी इतिहासकारोंके लिये सम्भव नहीं है। मालव लोगोंकी सत्ता और प्रजासत्ताक राज्य-पद्धति इस समय नष्ट हो चुकी थी। तब किसी प्रसिद्ध राजाका नाम इस सम्वत्को दिया जाय ऐसा लोगोंका विचार होना सम्भव है। इस समय हिन्दुस्तान भरमें गुप्त वंशके दूसरे चन्द्रगुप्तकी कीर्ति दानी, विद्वान और शकोंका पराजय करने वाले की स्थितिसे भी प्रसिद्ध थी। गुप्तों द्वारा चलाया हुआ गुप्त संवत् भी इस समय लुप्त हो चुका था। इस अवस्थामें मालव सम्वत्को 'विक्रम संवत्' का नाम दे दिया गया हो और वह केवल प्रादेशिक ही न रहकर सर्व मान्य हो गया हो। इस प्रकार एक नवीन शकारिको हम गौरान्वित कर रहे हैं, यह विचार भी उनमें आ जाना कोई अस्वाभाविक नहीं था। इसीलिये उन्होंने यह परिपाटी प्रारम्भ की। पहले यह नाम लोकप्रिय नहीं हुआ। आठवें, व दसवें शतकोंके इस सम्वत्के कुल ५२ उल्लेख प्राप्य हैं। उनमेंसे केवल तीन

स्थानों पर इस सम्वत्‌को विक्रमका नाम दिया गया है। ११-१२ शतकोंमें विक्रम सम्वत् नाम अधिक प्रचलित हुआ। एक ऐसी भी कल्पनाकी जा सकती है कि जिस 'कृत' नामके प्रजाध्यक्षने यह संवत् ईसाके पूर्व ५७ वर्षमें स्थापति किया था उसका भी विक्रमादित्य यह उपनाम था और उसका नवें शतकके इतिहास संशोधनोंने पुनरुज्जीवन किया व उसके संवत्‌को वह नाम दिया, लेकिन यह अधिक संभव नहीं प्रतीत होता। अगर 'कृत' को 'विक्रमादित्य' नाम दिया गया होता तो वह उसके सम्वत्‌के प्रारम्भमें ही क्यों नहीं दिया गया? नवें शतकके लोगोंको यह बात एकाएक कैसे सूझी?

विक्रमादित्य यह उपनाम पहिले शतकमें पर्याप्त लोकप्रिय भी नहीं था। धीरे धीरे विक्रम संवत् यह नाम अधिक लोकप्रिय होने लगा और उसका बहुतसा श्रेय गुजरातके चालुक्य राजाको देना चाहिये। संयुक्त प्रान्तके गढ़वाल राजाके उस समयके लेखमें इस कालगणनाको सम्वत् अथवा सम्वत्सर ऐसा सामान्य नाम ही दिया गया है, विक्रम सम्वत् ऐसा विशेष नाम नहीं लिखा है। दूसरी ओर चालुक्यके लेखोंमें यह नाम अधिकाधिक प्रचलित होता हुआ मिलता है। इस घरानेके संस्थापक मूलराज (ईसाके ९६१-९९६)के लेखमें इस कालगणनाका 'संवत्' ऐसा सामान्य नाम है। भीमदेव (ई० स० १०२२-६४) और कर्णदेव (१०६४ से १०९६)के लेखोंमें विक्रम सम्वत् यह नाम मिलता है। जयसिंह (१०९४-से ११४४), कुमारपाल (११४४से११७४ और (११७४ से ७६) अजयपालके लेखोंमें श्रीमद्विक्रमसंवत् ऐसा लेख मिलता है। 'श्रीमद्विक्रमादित्योत्पादित संवत्सर', 'श्रीमद्विक्रमनृप कालातीत संवत्सर', 'श्रीमद्विक्रमादित्यका शुरू किया हुआ संवत्' 'श्रीमद्विक्रमादित्य राजाके शकके वर्षानुसार', ऐसे प्रयोग भीमदेवराजाके लेख (११७८ से १२४१) में मिलते हैं। मुसलमानी शासन कालके प्रारम्भमें विक्रम सम्वत्‌का नाम गुजरातमें लोकमान्य था, यह प्रतीत होता है। दूसरे प्रान्तोंके ज्यौतिषियोंने अपने पँचाँगोंमें उसको स्वीकृत करके समस्त भारतवर्षमें लोकप्रिय बना दिया।

उपसंहार

विक्रम सम्वत्सरके प्रारम्भके सम्बन्ध में आजतक जो सामग्री उपलब्ध हुई है वह संक्षेपमें ऊपर दी जा चुकी है। और इससे भिन्न भिन्न विद्वानों ने क्या क्या निष्कर्ष निकाले हैं यह भी दिखा दिया गया है। अभी तक इस विषय पर निर्णयात्मक मत प्रतिपादन करनेके लिये यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है, यह पाठकोंको प्रतीत हो गया होगा। इस सम्वत्‌के पहिले-दूसरे शतकोंके लेख आगे चलकर

यदि उपलब्ध हो सके और उनमें भी उसको "कृतसम्वत्" नाम दिया हुआ मिला तो प्रस्तुत लेखक का ऊपर प्रतिपादित किया हुआ मत सर्वमान्य ठहरेगा। दूसरी ओर इन नवीन लेखोंमें 'विक्रमादित्य सम्वत्' नाम उपलब्ध हुआ, तो ऊपर प्रतिपादित मत अग्राह्य ठहरेगा। परन्तु "विक्रम सम्वत्" यह नाम पहले था यह दूसरे शतकोंके लेखोंमें उपलब्ध होना असम्भव प्रतीत होता है। तब 'मालव प्रजासत्ताक' राज्य का 'कृत' नामक अध्यक्ष अथवा सेनापति ने ई० स० के ५७ साल पहले शकोंका पराजय करके इस सम्वत्को स्थापित किया, इसलिये वह पहिले कृत नामसे प्रसिद्ध था, पीछे उसको मालव संवत् यह नाम मिला, आगे जाकर ९वें शतकके बाद उसको 'विक्रम' नाम प्राप्त हुआ और वह धीरे धीरे प्रसिद्धि पाने लगा, ऐसा निष्कर्ष इस समय तर्कशुद्धप्रतीत होता है।

विक्रम संवत् २०००

ले० डा० सुनीति कुमार चटर्जी,
एम०ए०, डी० लिट०,
कलकत्ता विश्वविद्यालय

महाकाल-स्वरूप, रुद्र और सुन्दर, भैरव और मंगल जिस नटराज शिवके नृत्य-छन्दसे ग्रह-नक्षत्रोंकी सृष्टि, स्थिति और ध्वंस होते हैं, ब्रह्मा और इन्द्रोंका आना-जाना होता है, संसारकी जातियोंके उत्थान और पतन होते हैं, उसीकी कृपासे हमारी हिन्दू-जाति अपने एक गौरवमय युगके शुरूसे दो हजार वर्ष बिताकर अब एक नई सहस्राब्दीके प्रारम्भमें आ खड़ी हुई है। हमारी सबसे पुरानी वर्ष-गणना तो कल्यब्द है, जिसका हिसाब ईसू ख्रिस्तके पूर्व ३२०१ बरससे गिना जाता है। अब तो कल्यब्द ५०४४ चालू है। परन्तु इस कल्यब्दके बारेमें ठीक-ठीक पता नहीं चलता है कि यह अब्द उसी समयसे अर्थात् अर्जुनके पौत्र और अभिमन्युके पुत्र राजा परीक्षित्के राज्यकालसे चला आ रहा है, या पिछले समयमें ज्यौतिषिक पण्डितोंने इस अब्दको बना लिया और व्यवहारमें ले आए। हमारी भारतीय संस्कृतिकी प्राचीनताके विषयमें हमारे पूर्वजोंने पुराणोंमें बड़े ही जोशके साथ अपनी राय या अपने विचार प्रकट किए हैं, जिसमें हजारों और लाखों की गिनती कुछ ऐसी बड़ी बात नहीं है। यहाँ तक कि हमारे कुछ विद्वानोंने आधुनिक कालके प्रकाशित कुछ संस्कृत और हिन्दी ग्रन्थोंमें एक 'सृष्ट्यब्द'का भी प्रयोग किया है। इस विचारके अनुसार, अब विक्रम संवत् २००० और ईस्वी सन् १९४३ में विश्व-सृष्टिसे १, ९७, २९, ४६, ०४३ बरस बीत गए हैं। ऐसी गणना-में ईस्वी सन, ईसा पूर्व या कल्यब्दका भी कोई स्थान नहीं। इस सृष्ट्यब्दके सामने

और सब अब्द समुद्रके सामने गोष्पद-जैसे हैं। ईसाई लोग एक सृष्ट्यब्दको मानते हैं, जो ईसू ख्रिस्तके पहलेके ४००४ बरससे गिना जाता है; अब इस अब्द-की गणना सिर्फ़ ५९४७ है। यहूदी लोग और एक सृष्ट्यब्द मानते हैं—इस वक्त उसका ५७०३ रा साल चल रहा है। मगर ये सब सृष्टि-अब्द मनचाही चीज़ें हैं। इनमें इतिहासिक सचाईका कोई प्रमाण नहीं। कल्यब्दके बाद एक प्राचीन भारतीय अब्द अब बौद्ध धर्मके देशोंमें—ख़ासकर सिंहल, ब्रह्म, स्याम और कम्बोजमें—चालू है, जो बुद्ध भगवानके जन्मसे गिना जाता है और जो अब २४८७ वें वरसमें है। यह भारतवर्षकी, शायद पृथ्वीकी, सबसे पुरानी ऐतिहासिक वर्ष-गणना है। पुराने ज़मानेके यवन या ग्रीक लोग ओलिम्पियामें देवराज जेउस पातेर या द्यौपूपिताके चौबरसिया त्यौहारके प्रारम्भ काल (ईसू ख्रिस्तके जन्मसे ७७६ साल पूर्व) से जो Olympiad या ओलिम्पिया अब्द मानते थे, वह और रोमक या रूमी लोग रोम शहरकी प्रतिष्ठा (७५३ ई० पू०) के कालसे जो अब्द मानते थे—ये दोनों अब चालू नहीं हैं। ईसाई तारीख़ने इन दोनोंको मिटा दिया है। बुद्धाब्दके बाद यह विक्रम संवत् स्थापित हुआ था, जो ईसू ख्रिस्तके ५८ अथवा ५७ वर्ष पूर्वसे चालू हुआ और अब तक चला जा रहा है।

विक्रम संवत्के उद्भव और इसके प्राचीन नामोंके विषयमें ऐतिहासिक पण्डितोंने बहुत-कुछ खोज की है। ऐसी ऐतिहासिक खोजसे हमारे बहुतसे प्रचलित सिद्धान्तों, मतवादों या विश्वासोंका, जिन्हें जनता मानती है और जो पुराने ढंगके विद्वानोंके पास स्वयंसिद्ध या सत्य है, बहुशः संशोधन होता है, और कभी-कभी संशोधनके कारण वे प्रचलित विश्वास, मतवाद या सिद्धान्त भित्तिहीन अथवा ग़लत या अशुद्ध भी प्रमाणित हो जाते हैं। वैज्ञानिक अर्थात् ऐतिहासिक परम्पराकी दृष्टिसे भी ऐसी ऐतिहासिक खोजपर ऐसे संशोधन की ज़रूरत माननी होगी। आध्यात्मिक विचारसे भी इसकी उपयोगिता है, क्योंकि 'नास्ति सत्यात् परो धर्मः'—सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है। अतः इस सत्यका निर्णय और निर्णीत सत्यकी प्रतिष्ठा होनी ही चाहिए। पर नया सत्य जब तक प्रतिष्ठित न हो, तब तक संशोधनका मार्ग तत्वज्ञके सिवा साधारण मनुष्यके लिए विभ्रमकारी होता है। जब तक प्रमाणित सत्यमें हम लोग नहीं पहुँच सकते, तब तक प्रचलित मतवाद जनताके लिए काफ़ी होता है। विक्रम संवत्के, जिसकी तीसरी सहस्राब्दीका सूत्रपात आज होता है, प्रतिष्ठाताके रूपमें मालवराज विक्रमादित्यको हम जानते हैं, जिनकी उज्जयिनी नगरी राजधानी थी और जिनकी नवरत्न-सभामें महाकवि कालिदास विराजते थे। आधुनिक इतिहास इस विक्रमादित्यके

अस्तित्वके सम्बन्धमें सन्देह प्रकट कर रहा है। इतिहासकी राय यह है कि विक्रम संवत्‌की अब्द-गणना किसी राजाने प्रतिष्ठित नहींकी थी ; बल्कि यह मालव-जातिके गणतन्त्रकी नई स्थापनाके स्मारक-स्वरूप मालव प्रजागण द्वारा प्रतिष्ठित हुई थी, इसलिए इसका एक प्राचीन नाम था 'मालवगण-स्थिति'। महाराज विक्रमादित्यके नामसे इसका सम्बन्ध लगाया गया था लगभग ईस्वी आठवीं शतीमें। इस 'मालवगण-स्थिति'का एक और नाम भी प्राचीन लेखोंसे मिलता है—'कृत', 'क्रित' या 'क्रीत'। इन तीन रूपोंमें इस शब्दके अर्थका ठीक पता नहीं चलता ; पर एक विद्वान्‌का अभिप्राय यह है कि इन तीनोंका मूल रूप 'क्रीत' ही है, जिसका मतलब है—'ख़रीद किया हुआ।' इससे एक ऐसे शक-पार्थव राजवंशके भारतके किसी अंशपर राज करनेका काल सूचित होता है, जिस राज-वंशके कुछ राजा पहले-पहल अपने पूर्वगामी राजाओंके ख़रीद किए हुए गुलाम थे, जैसे देहलीके तुर्की-राज्यके कुछ बादशाह गुलाम राजा कहलाते हैं। कहाँ भारतकी कल्पनाकी ज्योतिसे उज्ज्वल महामहिम महाराज विक्रमादित्यकी प्रयोजनासे विक्रम संवत्‌की प्रतिष्ठा और कहाँ विदेशी शक-पार्थव 'क्रीत' या ख़रीदशुदा गुलाम बादशाहोंके नामसे इसका प्रयोजन! परन्तु इस विचारमें बुद्धिके दृष्टिसे हमें पक्षपातशून्य रहना चाहिए। क्रीत अब्दकी जो व्याख्या दी गई है, वह असम्भव नहीं है ; पर प्रमाणित नहीं। 'मालवगण-स्थिति' नामके अनुसार, संवत् अब्द राजपूतोंमें मालव गणतन्त्रकी नई प्रतिष्ठाका अब्द है, यह व्याख्या मानने लायक है। प्राचीन भारतके गणतन्त्रके इतिहास और उसकी प्रकृतिके विषयमें स्व० काशीप्रसादजी जायसवालने पर्याप्त प्रकाश डाला है। उन्होंने विक्रम संवत्‌की उत्पत्तिके विषयमें अपनी विख्यात पुस्तक 'हिन्दू पालिटी'के प्रथम खण्डके पृष्ठ १५२-१५३ में जो लिखा है, वह इस बात पर आख़िरी सिद्धान्त माना जा सकता है। मालव-जाति ईसू ख्रिस्तके पूर्व चौथी शतीमें यवन सम्राट एलेक्सन्दरके साथ लड़ी थी। यह पंजाबकी एक प्राचीन आर्य-जाति थी, जिसके जीवनमें स्वाधीनताका बड़ा स्थान था। इसकी शूरता, देशभक्ति और स्वाधीनता-प्रियताके काफी उदाहरण यवन लेखकोंके ग्रन्थोंमें मिलते हैं। अपनी स्वतंत्रताको अक्षुण्ण रखनेके लिये, शक-पार्थव आदि विदेशी जातियोंकी सेनाओंसे अपनेको बचानेके लिए, मालव-जातिके लोग, उसी प्रकारकी और कई जातियोंके लोगोंके साथ, ईसाके पहलेकी द्वितीय शतीमें पंजाबसे राजपूतानेमें आकर उप-निविष्ट हुए थे। इनका एक प्रबल शत्रु था पार्थव राजा नहपाण। ख्रीस्त-पूर्व ५८ सालमें अन्ध्रराज गोमतीपुत्रने नहपाणको लड़ाईमें हरा दिया और जानसे मार

डाला। यह घटना मालवोंके लिये जीवन-रक्षाकारक हुई, इसलिए मालव-जातिने भविष्य कालके ज्ञापनके लिये ईसापूर्व ५८-५७ वर्षसे 'मालवगण-स्थिति' नामसे संवत् अब्दका स्थापन किया था। अपनी जातिके लिए 'कृत' या एक नया सत्ययुग आनेवाला है, इस खयाल से 'मालवगण-स्थिति' को 'कृत' भी कहते थे। फिर मालव-जातिका फैलाव राजपूतानेमें बहुत हुआ। इसके नामपर मालव देशने भी एक नए नामको प्राप्त कर लिया। यह अब्द-गणना मालव-जातिके विक्रम या पराक्रमका भी साक्ष्य देती है, इसलिए इसका नाम 'विक्रम' संवत् रखा गया; दरअसल यह विक्रमादित्य नामके किसी राजाके नामसे नहीं हुआ, पूरी जातिके लोगोंके विक्रम या शूरताका प्रकाशक है।

ऐतिहासिक खोजसे जो-कुछ निकले, सो निकले; पर यह बात तो अविसंवादित है कि आजसे दो हज़ार बरस पूर्वसे यह अब्द हिन्दू-जातिके इतिहासको प्रकाशित करता आया है। ईसाके बाद ७८ बरस बीत जानेसे कुषाण या शक-वंशीय राजाओंने एक नया अब्द क़ायम किया, जो 'शकाब्द' नामसे आजकल हिन्दू-संसारमें चालू है और जो भारतके बाहर द्वीपमय भारतमें (यवद्वीप आदिमें) और इन्दो-चीनमें भी फैल गया। पर विक्रम संवत्-सा गौरव इसका नहीं। बादमें गुप्त राजाओंने 'गुप्ताब्द' चलाया, और कुछ नए अब्द भी बनाए गए; मगर इनमें कोई भी विक्रम संवत्के तुल्य नहीं। किसी गौरवमय घटनाकी स्मृति, किसी आशापूर्ण अवस्थाकी याद लेकर विक्रम संवत् ज़रूरही उदित हुआ था, जिसका कुछ-कुछ पता जायसवाल-जैसे ऐतिहासिकोंने लगाया।

मालवगणोंकी स्थितिके बाद बना हुआ नया कृतयुग गुप्त अमलके पश्चात् 'महाराज विक्रमादित्य' के नामसे मिल गया। यह महाराज विक्रमादित्य कौन थे? ऐतिहासिकोंकी राय है कि यह विक्रमादित्य सचमुच गुप्त-वंशके सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त थे, जिनका विरुद या उपनाम भी था विक्रमादित्य। इन्होंने ईस्वी सन् लगभग ३८० से ४१४ तक राज किया था और भारतके विदेशी शत्रु हूणोंसे लड़ाईकी थी। ये प्रजारंजक राजा थे, और विचार यह है कि इन्हींके राज्यकालमें महाकवि कालिदास प्रकट हुए थे। इनके उपनामके कारण 'मालवगण-स्थिति' का कृत या विक्रम अब्द महाराज विक्रमादित्यका अब्द बन गया, और इस संयोगका नतीजा यह हुआ कि ईसाके पूर्व प्रथम शतीमें यह विक्रमादित्य खुद लाए गए।

किसी देशकी जनता इतिहासके सन् और तारीख़की परवाह नहीं करती, राजाओंकी परम्परा नहीं मानती। इतिहासमें जो-कुछ चित्तानन्दकर मिलता है, उसीका स्मरण जनताके मनमें अपना प्रभाव डाल देता है। चित्त विक्षोभकारक

बातभी जनता जल्दही भूल जाती है। दुःखकी स्मृति कभी कभी रह जाती है; पर उतनी नहीं, जितनी सुखकी। भारतीय जनगणोंने अपने राजादर्शसे उज्जयिनी-पति नवरत्न-सभाधीश महाराज विक्रमादित्यके व्यक्तित्वको मूर्तिमानकर दिया है। यह भारतीय जनके चित्तमें अब तक विराजमान है। वास्तवसे यह कल्पना अधिक मनोमुग्धकर होगई है। 'विक्रम संवत्के राजा विक्रम'—इस बातसे हिन्दू-जनताके समक्ष जिस प्रजारंजक, गुणिजन-पोषक, न्यायधर्मी, शूरवीर देशरक्षक राजाका आदर्श उदित होता है, मानो राजा रामको छोड़कर और कहीं राजधर्म का इतना उच्च-आदर्श नहीं मिलता। प्राचीन भारतीय संस्कृतिका मानो एक सम्पुट बनकर यह नाम और इस नामका अब्द हमारे सामने विद्यमान हैं। अगर शब्दोंमें कहें, तो इतनाही कहना काफ़ी होगा कि 'विक्रम संवत्' में हिन्दू-इतिहास विजड़ित है और हिन्दू-आदर्श इस नाममें छिपा हुआ है।

प्राचीनकालमें बहुत-सी जातियाँ प्रकट हुई थीं, और विश्व-मानव अर्थात् समग्र मानव-जाति के लिए अपने-अपने उपहार, समग्र मानव-सभ्यताकी पुष्टिके लिए अपने-अपने दान लाकर अतीतके गर्भमें विलीन होगई हैं। मिसरी, ईजीयन, खलदेया, असुर, यवन, रोमक—ये सब जातियाँ चली गईं। तीन प्राचीन जातियों के साहित्यमें मानव-चिन्ता और सौन्दर्य-सर्जनकी श्रेष्ठ वस्तुएँ मिलती हैं। परमार्थ लाभ करनेके लिए सबसे मौलिक और गम्भीर भाव-संभार सिर्फ़ इन तीन प्राचीन जातियोंने दिए हैं। ये तीन जातियाँ हैं—हिन्दू या प्राचीन भारतीय, यवन या प्राचीन ग्रीक और चीनी। इनमें यवनोंका नाम व निशान अब मिट गया है; पर भारतीय अर्थात् हिन्दू और चीनी—ये दो जातियाँ अब तक जीती-जागती हैं। प्राचीन युगके सब प्रौढ़ और सुकृतिवान् जनगणोंमें केवल दो ही आज तक मरे नहीं हैं, जीते हैं—हिन्दू और चीनी। इसका कारण यह है कि इन जनगणोंके लोग पूरी तौरसे अपने प्राचीन धर्म और अपनी प्राचीन संस्कृतिसे छूटे नहीं हैं। अपने धर्म और अपनी जीवन-रीतिकी रक्षा करते हुए प्राचीनोंसे, पूर्वजोंके पुण्य-अवदानसे इन्होंने अपनोंको अलग नहीं कर दिया है। प्राचीनके बसिलसिला परिवर्त्तनमें जीवन है। प्राचीनसे संयोग-सूत्र छिन्न होनेसे जीवनमें—खासकर मानसिक और आत्मिक जीवनमें—भी हानि पहुँचती है। प्राचीनके ऊपर आधुनिककी प्रतिष्ठाको जब हम सहज भावसे मान लेते हैं, तब बहुत-सी जातियोंमें हम ऐसाही देखते हैं। हमारी संघ-शक्ति बढ़ती है, अपनेको दिवालिया और पर-प्रसाद-पुष्ट सोचनेका अवकाश हमें नहीं मिलता, और इससे हम आत्मिक दैन्यसे बच जाते हैं। कमसे कम दो

हज़ार सालकी स्मृति और संयोग इस विक्रमाब्दसे हमारे सामने मूर्त्तिमान हैं। इस कारण इस अब्दका अस्तित्व हमारे जातीय जीवनमें शक्ति लानेवाला है।

इन दोहज़ार वर्षोंमें कितना कुछ-हुआ! पृथिवीका इतिहास इन दोहज़ार वर्षोंमें कई बार उलट गया। रोमका साम्राज्य विस्तार, आख़िर रोमका पतन, यूरोपमें प्राचीन धर्मका विलोप और ईसाई-धर्मका उसके स्थानमें आकर उसे लेलेना; इधर इस्लामका उद्भव होना और फैलना, इराक और हिस्पानमें इस्लामी सभ्यताका विकास, मंगोल और ईसाइयोंके हाथ उसका विनाश; भारतमें बौद्ध और ब्राह्मण्य धर्मोंके साथ सभ्यताका फैलाव, द्वीपमय भारत, Indo-China या इन्दो-चीन और Serindia या चीन-हिन्दमें एक 'बृहत्तर भारत' का स्थापन, भारतमें दार्शनिक और वैज्ञानिक तथा कला-विषयक और साहित्यिक उन्नतिकी पराकाष्ठा; भारत पर शक-हूणोंका आक्रमण, उनका उपनिवेश, आख़िर तुर्कों द्वारा भारतीय संस्कृतिपर किया हुआ भयंकर आक्रमण और भारतके मुसलमान युगका आरम्भ, मुसलमान राज्यका प्रसार, मुग़ल सम्राट्गणके समय भारतीय सभ्यताके इस्लामीय रूपकी प्रतिष्ठा; फिर पुर्त्तगाली, फ्रांसीसी, अंगरेज़ आदि यूरोपीय जातियोंके लोगोंका आगमन; मध्य-युगके सिद्ध, भक्त और सन्तों द्वारा भारतीय ईश्वर-बोधका नया फैलाव; उधर यूरोपमें गण महाराजका अभ्युदय—फ्रांसीसी क्रान्ति, इंग्लैण्डके भारत-अधिकारके फल-स्वरूप उसके साम्राज्यकी दृढ़ प्रतिष्ठा और व्यापारिक तथा औद्योगिक उन्नति; जर्मनीका उदय, इंग्लैण्ड और जर्मनीमें शत्रुता, विगत महायुद्ध; और रूसकी क्रान्ति, जिससे समग्र दुनियाके प्राचीन रीति-रस्म, औरोंको दबाकर जो अर्थनीति और राष्ट्रनीति आज प्रबल हैं, उनके साथही साथ जो रीति-रस्म क़ायम हैं, वे दूर होजाने वाले हैं। और सबसे बढ़कर है विभिन्न प्रकारके स्वार्थों और आदर्शोंके संघातसे पैदा इस समयका महासमर। न जाने इसका नतीजा क्या होगा, कहाँ तक जातिगत स्वार्थ-बोध और दुर्बलों पर अत्याचार पृथिवीसे मिट जायँगे। हम भारतीयोंके लिए विक्रम संवत्की यह नवीन सहस्राब्दी क्या लायगी, इसका भी पता नहीं है।

मनुष्यके जीवनमें वर्षगाँठ या सालगिरहका दिन स्मरणीय होता है। ऐसे दिनमें मनुष्य विचार कर देख सकता है कि मानसिक, आध्यात्मिक तथा भौतिक जीवनमें नफ़ा-नुक़सान क्या हुआ, आशा-आकांक्षा कहाँ तक पूरी हुईं और चिन्ता-आशंका कहाँ तक दूर हुईं। मनुष्य नव वर्षके लिए नए संकल्प करता है और नवीन आशा तथा उत्साहसे काममें लग जाता है। जातिके जीवनमें एक-एक शती एक-एक वर्षगाँठसी होती है। सहस्राब्दी ख़तम हुई, मानो जातिके जीवनके

दस साल बीत गए। यूरोपमें ईसाई लोग सोचते थे कि जब ईसाई अब्दके हजार साल पूरे होजायँगे, तब पृथिवीमें प्रलय होगा, स्वर्गसे अपने फ़रिश्तोंको साथ लाकर ईसू ख्रिस्त फिर नया अवतार लेंगे, रोज-ए-क़यामत जाहिर होगा और स्वर्गराज्यकी नींव डाली जायगी। लोग बड़ी आशंकामें थे कि दुनियाका क्या होगा? बहुतसे लोग जोशके साथ धर्मकर्म करने लगे। पर ईस्वी अब्द १००० बीत गया, दुनिया पूर्ववत् ज्योंकीत्यों चली। जातिके जीवनमें उस जातिमें व्यवहृत अब्दके शतक या सहस्रक ख़त्म होनेके समय कुछ आशंका, कुछ आशाका आना स्वाभाविक है। शती या सहस्राब्दी ख़त्म होजानेका समय क्रान्ति लाता है, ऐसा विचारभी स्वाभाविक है। मुग़ल सम्राट् भारततिलक अकबर बादशाहके राजकाल में इस्लामी अब्द हिजरीके पहले सहस्र वत्सर पूरे हुए। इस घटनाके स्मारकस्वरूप अकबरने 'तारीखे अलूफ़ी' अर्थात् 'सहस्रकका इतिहास' नामक एक इतिहासग्रन्थ फ़ारसीमें लिखवाया था, जिसमें नबी मुहम्मदके समयसे अकबरके समय तक इस्लामी दुनियाका एक ऐतिहासिक सिंहावलोकन था। ऐसे सुन्दर उपायसे पुरानी सहस्राब्दीको विदा देदी गई और साथही नईका आवाहन किया गया। अनजानमें हम लोगोंने भी जातिकी ओरसे ऐसेही काममें हाथ लगाया है। विक्रम संवत्की तीसरी सहस्राब्दीके शुरूके साथही साथ कमसे कम चार भारतीय इतिहास ग्रन्थ बनानेकी कोशिश चल रही है। काशीकी भारतीय इतिहास परिषद्ने सर यदुनाथ सरकारके सम्पादकत्वमें भारतवर्षका एक विराट् इतिहास बनानेका काम हाथमें लिया है, जिसके पूरा होनेमें कई बरस लग जायँगे। वैसाही दूसरा एक इतिहास भारतीय इतिहास सम्मेलन भी बनाकर प्रकाशित करेगा। ढाका-विश्वविद्यालयसे बंगाल-प्रदेशके इतिहासका पहला खण्ड शीघ्रही प्रकाशित होनेवाला है। उधर गुजरातसे श्रीकन्हैयालाल मुन्शीके सम्पादकत्वमें मूलराज सहस्राब्दी जयन्तीके स्मारक 'The Glory that has Gujarat' नामक इतिहास ग्रन्थ निकलनेवाला है। ये सब पुस्तकें हमारी आत्म-समीक्षाके लिए, हम हिन्दू-जाति या भारतीय जातिके लोगोंने इतने शतक भर क्या क्या किया, उस सबके दिग्दर्शनके लिए निहायत उपयोगी होंगी।

हम लोग चाहे जितनेही विचारशील हों, जितनेही वैज्ञानिक मनोभाव-युक्त हों, हमारे अन्तःकरणमें कल्पनाकी या रसग्राहिताकी एक धारा अन्तःसलिला फल्गु नदी-सी छिपी हुई बहती है। वह हमें कवि, भावुक या रसिक बना देती है। उसीके कारण हम एक मामूली दिनमें बहुतसे गुण देखते हैं। किसी कालमें विशेष कुछ माहात्म्य देखना चाहते हैं, कुछ विशेष मुहूर्त्त रहें या न रहें, हम ऐसे शुभ

अवसरको छोड़ नहीं सकते। जो सहस्राब्दी बीत गई, उसमें भला और बुरा दोनोंही हमारे जीवनमें महाकाल ला चुका है। इन भलों और बुरोंकी जाँच हम इस वक्त नहीं कर सकते। रुद्रके साथ अगर हमने एक पात्रसे विष पिया है, तो भी हमें यह ज्ञान है कि हम अमृतके पुत्र हैं, हम मरनेके नहीं। बुराइयाँ जो हमें पहुँची हैं, उनसे मुक्त होनेके लिए ईश्वर हमें शक्तिदें, हमें एकतादें, हमें समर्थ बनायँ। ये बुराइयाँ हमारी परीक्षाके लिए भाग्य-देवताकी देन हैं। हम ईश्वरके सामने इस परीक्षामें उत्तीर्ण हों। और जो अच्छी चीजें, जो भलाइयाँ हमें मिली हैं, उनके लिए ईश्वरके पादपीठपर हमारी कृतज्ञता पहुँचे। हम दुःखका स्मरण करें, ताकि हम दुःखको दूर करनेमें चेष्टित हों; सुखका स्मरण करें। ताकि हम उत्साहित हों। हमारी राष्ट्रीय स्वाधीनता चली गई है। हममें बहुविध नीचताएँ भीरुताएँ और जड़ताएँ आगई हैं। हमें फिर उच्चमनाः, साहसी और उत्साही बनना चाहिए, अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता और शक्तिको फिर जाग्रत करना चाहिए। कई महापुरुष अपने पुण्य जीवनके आदर्श हमारे सामने गए सहस्र बर्षोंमें लाए हैं: पृथ्वीराज चौहान, आचार्य हेमचन्द्र, कबीर, राणा प्रताप, सायणाचार्य, महाप्रभु चैतन्य, गुसाईं तुलसीदास, सम्राट् अकबर, शिवाजी, समर्थ रामदास, गुरु नानक, गुरु गोविन्दसिंह, रानी अहल्याबाई, विजयनगरके राजा कृष्णराय, राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी। इनके आविर्भावसे साबित होता है कि ईश्वरने हमें अब तक त्याग नहीं दिया है। हमें आशा है कि फिर हम अपने झण्डेको ऊँचा कर सकेंगे। और नवीन सहस्राब्दीका स्वागत करते हुए हम ईश्वरसे यह प्रार्थना करते हैं कि क्या काले, क्या गोरे, क्या मुसलमान, क्या ब्राह्मण, क्या हरिजन—मनुष्य मनुष्यके भाई हैं, यह बोध हममें सुदृढ़ होजाय; अपने पूर्वजोंके कीर्त्तिकलापकी चिन्ता करते समय हममें हमारी अपनी अयोग्यताके कारण मनमें आत्म-समीक्षा और लज्जा और साथही साथ हमारे दोषोंको गुणोंमें परिवर्त्तित करनेकी इच्छा और चेष्टा आ जायँ; दूसरे किसी देशके न्याय्य हक़को नुक़सान पहुँचाए बिना हम अपने देश भारतको स्वाधीन, समृद्ध और पृथिवी-भूषण तथा जगजीवन बना सकें।

इतिहास के तथा जनश्रुति के राजा
विक्रमादित्य

ले० डा० दिनेशचन्द्र सरकार, एम.ए., पी.एच.डी.
प्राचीन भारतीय इतिहास व संस्कृति विभाग,
कलकत्ता विश्वविद्यालय

ईसाकी चौथी सदीके अन्तके पहले तक विक्रमादित्य नामके किसी भी भारतीय शासकके अस्तित्वका कोई ग्रन्थ लिखित या जन श्रुति पर अवलम्बित कोई प्रमाण प्राप्य नहीं है। सच तो यह है कि पाचवीं सदीके पहले तक किसी भी ऐसी उपाधिके प्रचलित होनेका कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसके अन्त में "आदित्य" शब्द लगा हो। इस सम्बन्धमें यह विशेषरूपसे उल्लेखनीय है कि पुराणोंके भविष्यानुकीर्तन भागमें जिसमें कि चौथी सदीके प्रारम्भ तक का ऐतिहासिक वृत्तान्त वर्तमान है, किसी भी विक्रमादित्यका उल्लेख नहीं मिलता है। यदि विक्रमादित्य नामका कोई इतना प्रतापी शासक पुराण लेखकोंके समय के पहले भारतमें हुआ होता तो ऐसे विख्यात शासकका उनकी दृष्टिसे वंचित रह जाना सर्वथा असम्भव था। किन्तु विक्रमके नामसे ईसासे ५८ वर्ष पूर्वका एक सम्वत् चला आ रहा है और बादकी परम्पराओंने उज्जयिनीके शासक विक्रमादित्यको उसका जन्मदाता घोषित कर दिया है। किन्तु विक्रम संवत्के वर्षोंको ईसाकी प्रारम्भिक शताब्दियोंमें "कृत" नामसे सम्बोधित किया गया है और कुछ समय बाद उसका सम्बन्ध मालवके प्रजातन्त्र शासनसे सम्बद्ध किया गया है। इस प्रकार आठवीं और नवीं शताब्दिमें आकर इस सम्वत्का सम्बन्ध विक्रमादित्यके नामसे किया गया है। यह बहुत सम्भव है कि यह सम्वत् शक व पहलवोंका प्राचीन सम्वत् रहा हो जिसे मालव जातिने अपने उद्गम स्थान पंजाब स्थित झंग जिलेसे लाकर राजपूताना व मालवमें प्रचलित किया हो। यह मत कि विक्रम सम्वतसरको प्रचलित करनेवाला विक्रमादित्य नामका राजा शातवाँहन वंशका गौतमीपुत्र शातकरणी था, नितान्त भ्रमात्मक व सर्वथा निर्मूल है। यह

आगे लिखे प्रमाणोंसे सिद्ध होता है। इस गौतमीपुत्रने ईसाकी दूसरी शताब्दिके प्रथमार्धमें शासन किया था अतः किसी भाँति भी इसका काल ईसाके पहले शताब्दिमें नहीं कहा जा सकता है। परम्परा या जनश्रुतिसे यह स्पष्ट है कि इस राजाकी राजधानी गोदावरीतटपर स्थित प्रतिष्ठान थी। यह ध्यान रखना चाहिये कि इसको विक्रमादित्यकी सर्व सम्मत राजधानी उज्जयिनी या पाटलिपुत्र से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता है। गौतमीपुत्रने किसी सम्वत्सरकी स्थापना नहीं की, अर्थात् उसके उत्तराधिकारियोंने उसके राज्यकालके वर्षों को संचालित नहीं किया है। इसके अतिरिक्त उसे कहीं भी विक्रमादित्य नहीं कहा गया है और उसके विषयमें प्रचलित "वरवारण विक्रम चारु विक्रम" का उपरोक्त उपाधिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। हाल लिखित सतसईमें वर्णित विक्रमादित्यसे भी इस सम्बन्धमें कुछ सिद्ध नहीं होता है क्योंकि उस ग्रंथके समस्त श्लोकोंका समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दिके पहलेका नहीं कहा जा सकता।

सर्व प्रथम ऐतिहासिक विक्रमादित्य मगधके गुप्त सम्राट वंशका चन्द्र गुप्तद्वितीय (३७६-४१४ ई०) है। उसने पूर्वमें बंगाल से लेकर पश्चिममें काठियावाड़ तक समूचे उत्तर भारतमें शासन किया था। इसने ही पश्चिमी भारतके शक शासकोंका राज्य उलट दिया और धारवाड़ जिलेके गुत्ताल स्थानके प्रसिद्ध गुत्त (गुप्त) शिला लेखोंमें वर्जित "उज्जयिनी पुरवर अधीश्वर" और "पाटलिपुरवर अधीश्वर" परम्परा में इसी का वर्णन किया गया है। मालूम यह होता है कि गुप्त वंशीय सम्राटों ने मालवा, राजपूताना और काठियावाड़से शकोंको खदेड़कर उज्जयिनीको ही एक प्रकारकी अपनी दूसरी राजधानी बनाया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय केवल विदेशियोंका समूलोच्छेदक तथा आर्य्यावर्तके विशाल साम्राज्यका शासक ही नहीं था, अपितु दक्षिणके विशाल भूभागोंके शक्तिशाली शासकों नागाओं, बरारके वाकाटकों और सम्भवतः कनाड़ाके कदम्बोंके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके वहाँ अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करनेवाला भी था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतवर्षमें वैष्णव सम्प्रदायके भागवत् धर्मका वह महान् प्रचारक था तथा "परम भागवत्" उपाधिका चलानेवाला भी वही था जिसका प्रयोग ईसाकी पाँचवीं शताब्दिसे प्रचलित हुआ। वह विद्याका भी महान् संरक्षक था। पाटलिपुत्रका महान् कवि शववीरसेन उसकी पश्चिमीय विजय-यात्रामें उसके साथ था। भारतके एक बड़े भू-भागपर आधिपत्य, विदेशियों का निष्काशन, साहित्य व कलाका संरक्षण तथा अन्य अनेक विषद गुणोंके कारण चन्द्रगुप्त द्वितीयने जनताकी भावनाको अपनी ओर अवश्य आकर्षित

किया, और इसीसे उसका नाम व उसकी कीर्ति देशके कोने कोने तक फैल गई। धीरे धीरे उसके नाम व उसके कार्य्योंके साथ उसके जीवन कालमें ही दन्त-कथायें मिश्रित होने लगीं और निस्सन्देह उसके मृत्युके उपरान्त बहुत काल तक उत्तरोतर बृद्धि करती गईं। इस प्रकार उसके जीवनचरित्रके साथ न जाने कितनी सम्भव और असम्भव कहानियाँ मिल गईं। संसारके सभी देशोंमें उनके ऐतिहासिक महापुरुषोंके नामोंके साथ प्रायः दन्तकथाओंका सम्मिश्रण मिलता है। ठीक इसी प्रकार भारतका राजा विक्रमादित्य भी उन दन्तकथाओंके उज्वल प्रकाश में जीवित है जो मुख्यतः भारतीयोंकी उस प्रगाढ़ श्रद्धाका परिणाम हैं जो वे उसकी मधुर स्मृतिमें अनुभव करते थे। जन विश्वासनेउस प्राचीन राजा विक्रमादित्यमें उन समस्त राज्योचित गुणोंका समावेश पाया और इसी लिये जो कुछ भी भव्य है, विशाल है या सुन्दर है उस सबका वह मूर्तिपुञ्ज बन गया है। उसे ईसाके पहलेकी प्रथम शताब्दिके समयका कहा जाता है क्योंकि उसका नाम एक प्रचलित जन श्रुतिके आधार पर प्राचीन शक व पहलवों द्वारा संचालित कृत या मालव गण सम्वत्के साथ जोड़ा जाता है। उसे समस्त भारतके शासक सम्राट्के रूपमें देखा जाता है। उसे तत्कालीन भारतीय कला, साहित्य और विज्ञान का प्रतिनिधित्व करनेवाले प्रसिद्ध नवरत्नोंके नामसे विख्यात कलाविदोंका संरक्षक कहा जाता है। विक्रमादित्यके बारेमें प्रसिद्ध है कि वह दुष्टोंका दमन और गुणियोंका सत्कार करनेमें कभी असावधानी न करता था। इसमें सन्देह नहीं कि प्रचलित दन्तकथाओंमें से बहुत सी ऐतिहासिक आधारोंपर अवलम्बित हैं चाहे वह आंशिकरूपमें ही क्यों न हो। किन्तु साथही साथ यह भी निश्चय है कि उनमेंसे बहुतसी केवल बनावटी तथा अनैतिहासिक हैं। अशोकावदानमें वर्णित अशोक मौर्यके जीवनचरित्र सम्बन्धी समस्त जन श्रुतियाँ व दन्तकथायें प्रामाणिक नहीं मानी जातीं। दिल्ली, अजमेर और साँभरके राजा पृथ्वीराज तृतीय और गाहड्वाल जयचन्द्र तथा परमर्दिन चन्देलोंके सम्बन्धमें पृथ्वीराज रासो व आल्हखण्डमें प्राप्त जनश्रुतियों व दन्तकथाओंकी तत्कालीन चौहान गाहड्वल व चन्देलवंशोंके प्राप्य प्रामाणिक उल्लेखों द्वारा कोई पुष्टि नहीं होती, बल्कि कहीं कहीं तो वे एक दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं। इसलिये विक्रमादित्यके सम्बन्धमें भी भारतमें प्रचलित दन्तकथाओं व जनश्रुतियों पर पूर्ण विश्वास करना असंगत होगा क्योंकि उनमेंसे कुछ तो विश्वसनीय प्रमाणों द्वारा प्रमाणित नहीं है और कुछ इतिहासकी प्राप्त सामग्रीके सर्वथा विरुद्ध हैं। उदाहरणके लिये देखिये ज्योतिर्विदाभरणमें लिखा है कि बराहमिहिर विक्रमादित्यके दरबारके

नवरत्नोंमें से एक थे किन्तु उनके अपने ही लेखों से सिद्ध है कि उस नक्षत्र विद्याके महापण्डितकी मृत्यु ५८७ ई० में हुई और आर्यभट्ट जिनका जन्म ४७६ ई० में हुआ था, उसके पहले हो चुके थे। अतः यह वराहमिहिर न तो ईसाके पहलेकी प्रथम शताब्दीमें हुआ जो दन्तकथाओंके आधारपर विक्रमादित्यका समय कहा जाता है; और न चौथीया पांचवीं शताब्दि में ही हुआ जो प्रथम ऐतिहासिक विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) का समय कहा जाता है।

इस सम्बन्धके इतिहासका जो कुछ भी निर्णय क्यों न हो, परम्परा प्रसिद्ध विक्रमादित्य, जिसकी स्मृति आज हम मना रहे हैं, कोई अर्थहीन कल्पना नहीं था। वह भारतीय राजत्व का उच्च आदर्श है व हिन्दू इतिहासके स्वर्ण युगका महान् प्रतिनिधि है। वह आज भी भारतीय देशभक्तोंके स्वप्न संसारमें पूर्ण आलोकसे विद्यमान है। आगे आनेवाले राजाओं व साम्राज्य-निर्माताओं द्वारा उसकी स्मृति अमर हो चुकी है जो उसकी उपाधि धारण करनेके लिये सदैव उत्सुक रहे। विभिन्न युगोंके लेखकों ने उसका वर्णन करके उसकी अमर कीर्ति सदाके लिये स्थापित कर दी है। चन्द्रगुप्त द्वितीयके उत्तराधिकारी गुप्त विक्रमादित्य, बादामी व कल्याणी के चालुक्य वंशीय विक्रमादित्य, बाणके राज्यवंशीय विक्रमादित्य, कलचूरीवंशका गाङ्गेयदेव विक्रमादित्य और गुहिल विक्रमाजीत (विक्रमादित्य), उन भारतीय नरेशोंमें से कुछ हैं जिन्होंने विक्रमादित्यकी प्रतिष्ठित उपाधिको धारण किया था। राष्ट्रकूट गोविन्द चतुर्थ प्रभृति कुछ मध्य कालीन राजाओं ने तो शक्ति तथा राजकीय गुणोंमें अपने को विक्रमसे भी अधिक घोषित किया है। परमार सिन्धु राज (९९५—१०५५ई०) सदृश राजाओं ने तो अपनेको "नव विक्रमादित्य (साहसाङ्क)" घोषित किया है। सिन्धुराजके पुत्र और विद्याके महान् संरक्षक भोज व विक्रमादित्यको एक मानने वाली जनश्रुति भी निरर्थक नहीं है। मध्यकालके उत्तर भाग वाले इतिहासमें दिल्ली पर आधिपत्य करनेवाले हेमूँ तथा बंगाल में जैसौरके प्रतापादित्यके पिता सदृश व्यक्तियोंने भी विक्रमादित्यकी उपाधि धारण की थी। कहा जात है कि मुग़ल सम्राट् अकबरने भी इसी प्राचीन भारतीय सम्राटकी नकलमें अपने को नवरत्नों का संरक्षक बनाया था। विक्रमादित्यके सम्बन्धमें लिखने वाले या उसका वर्णन करने वाले असंख्य लेखकोंमें परमार्थ, सुबन्धु, ह्वेंचांग, कथा सरित् सागर व द्वात्रिंशत् पुत्तालिकाके लेखक, अलबरूनी व वामन तथा राजशेखर प्रभृति कवियों, व मेरुतुङ्ग प्रभृति जैन लेखकोंके नाम तथा अमोघ वर्षके संजन दान व गोविन्द चतुर्थके खम्भात व साँगलीके दानोंके लेख

तथा कल्हण इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार उस महान् सम्राटकी स्मृतिको भारतवर्षके सच्चे सपूतोंने प्रत्येक कालमें अपने श्रद्धा से पुष्ट किया है।

विक्रमादित्यके प्रति अपार प्रेम व अटूट श्रद्धा ही ऐसा बन्धन है जो भारतके विभिन्न भाषा-भाषियोंको, जो अभाग्यवश सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक मतभेदोंके कारण एक दूसरेसे अलग हैं, एक कर सकती हैं। आज हमें इस महान् विक्रमकी स्वर्णमय पताकाके नीचे हाथसे हाथ मिलाकर संगठित होना चाहिये। उसके नामके संस्मरण मात्रसे ही हमें सन्तोष मिलना चाहिये। विशेषतया वर्तमान समयमें जब कि हम लौह-कालके अनगिनत व्यांधियों द्वारा पीड़ित हो रहे हैं।

अन्त में वासवदत्ताके लेखक सुबन्धुके निम्नलिखित हृदय द्रावक पद्यको हम भी दुहरानेको बाध्य हैं:—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसंति चरति नोकं कः
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

उस महाप्रतापी विक्रमादित्यके लिये, उस दीनों व असहायोंके मित्रके लिये, उस भारतीय संस्कृति व धर्मके रक्षकके लिये, उस विद्याके संरक्षकके लिये, और विदेशियोंको परास्त करने वालेके लिये, आज पुनः एक बार अश्रुपूर्ण नेत्रोंके साथ यह ध्वनि उठ रही है:—

"हे विक्रम! यदि तुम आज हमारे बीच में होते,
भारतको आज तुम्हारी आवश्यकता है।"

मेहरौली लौहस्तम्भ लेख का चन्द्र

ले० डा० रमाशङ्कर त्रिपाठी, एम.ए., पी.एच.डी., (लंदन)
प्रोफेसर भारतीय इतिहास व संस्कृति,
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

दिल्लीसे लगभग दस मील की दूरी पर मेहरौली ग्राममें कुतुबमीनारके पास एक लोहेका स्तम्भ है जो इस देशके प्राचीन गौरव की एक बहुमूल्य वस्तु है। इसके चारों ओर जो खण्डहर हैं वे पृथ्वीराज चौहान कालीन दिल्लीके भग्नावशेष कहे जाते हैं। लौहस्तम्भ शाह इल्तुतमिशकी मस्जिदके सामनेवाले पक्के चबूतरे पर अब भी गड़ा हुआ है। उसकी उँचाई २३ फीट ८ इञ्च है, और वह ऊपर की तरफ पतला होता गया है। उसका व्यास नीचे १६ इञ्च है, और ऊपर केवल १२ इञ्च। वह क़रीब ३ फीट नीचे जमीनमें गड़ा है, और खपाचियोंके सहारे के कारण आज तक तनिक भी किसी ओर झुका नहीं है। स्तम्भके शिखर पर परगहा बना है, जिसपर सम्भवतः गरुड़की मूर्ति स्थापित रही होगी। समस्त लौहस्तम्भ का ढालना आजकलके यान्त्रिक समयमें भी कोई सरल काम नहीं है; और आश्चर्यकी बात तो यह है कि डेढ़ सहस्र वर्ष से अधिक घोर वर्षा तथा सूर्यके प्रचण्ड तापके आघात सहते हुये भी उसपर कहीं जङ्ग छू तक नहीं गई है। स्तम्भपर शार्दूलविक्रीडित छन्दमें निम्नलिखित तीन श्लोक उत्कीर्ण हैं—

यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागतान्
वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।
तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरेसिन्धोर्जिता वाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः ॥
खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्गामाश्रितस्येतरां
मूर्त्या कर्मजितावनीं गतवतः कीर्त्या स्थितस्यक्षितौ।

शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्
अद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोर्यत्नस्य शेषःक्षितिम् ॥
प्राप्तेन स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाधिराज्यं क्षितौ
चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता।
तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना भावेन विष्णौ मतिम्
प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः ॥

ऐतिहासिक दृष्टिसे ये पंक्तियाँ बड़े महत्वकी हैं। इनसे हमको यह पता चलता है कि:—(१) सम्राट् चन्द्र ने बङ्ग देशमें अपने शत्रुओंको, जो सङ्गठित रूपसे उसका सामना करनेको उद्यत थे, मार भगाया ; (२) सिन्धुके "सप्तमुखों" को पारकर उसने वाह्लीकों पर विजयप्राप्तकी; (३) उसके पराक्रमपवनोंके झोकोंसे दक्षिण सागर "आज भी" (अद्यापि) सुगन्धित है ; (४) उसके संसार छोड़ने पर भी उसका यश पृथ्वी पर बहुत दिनों तक विद्यमान रहा ; (५) उसने अपने बाहुबलसे प्राप्त किये हुए (स्वभुजार्जितं) एकछत्र राज्य (ऐकाधिराज्यं) को चिरकाल तक (सुचिरं) भोगा है ; (६) उसने विष्णुकी भक्ति में लीन होकर विष्णुपद नामक पर्वत पर विष्णु का यह ऊँचा ध्वज स्थापित किया। इस समय जहाँ यह लोहस्तम्भ गड़ा है वह समथलभूमि है, इसलिये ऐसा अनुमान किया जाता है कि शायद वह पहले अन्यत्र विष्णुपद नामक गिरि पर खड़ा किया गया हो और पीछे किसी राजा ने इसे वहाँसे हटाकर इस स्थान पर गड़वाया हो। गया में विष्णुपद गिरि अवश्य है, पर यह सम्भव नहीं प्रतीत होता है कि उतनी दूरसे हटाकर यह लौहस्तम्भ दिल्ली लाया गया हो। कुछ विद्वानोंके मत में विष्णुपद गिरि दिल्ली "रिज" (Ridge) के उस भू-भागका ही नाम है जिसमें यह स्तम्भ गड़ा है।

इस प्रशस्तिके ऐतिहासिक विवरण को जानकर स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि सम्राट् "चन्द्र" था कौन? यह बड़े खेदकी बात है कि उसमें किसी तिथि या संवत्का उल्लेख नहीं है ; अतएव चन्द्रके निर्णय करने में कठिनाई हो रही है। फ्लीट (Fleet) महोदयके मतानुसार इस लेखके अक्षर उत्तरीय शैलीके हैं, और इसको ध्यानमें रखते हुये कि वे लोहा-ऐसे कठोर-धातु पर खुदे हैं यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि इनकी बनावट इलाहाबादके स्तम्भलेखके अक्षरोंसे बहुत कुछ मिलती-जुलती है। अतः चन्द्रका राज्यकाल चौथी शताब्दीके आस-पास ही होना सम्भव है। सम्भव है कि उसका पूरा नाम चन्द्रनाथ या चन्द्रांश, चन्द्रवर्मन् अथवा चन्द्रगुप्त रहा हो, और पद्यमें होनेके कारण लेखमें उसका

संक्षिप्त रूप ही दिया गया हो। पूरा नाम चाहे जो कुछ समझा जाये, यह स्पष्ट है कि इस राजाके व्यक्तित्वके सम्बन्धमें विद्वानोंमें तीव्र मतभेद है। डा० फ्लीट, डा० कृष्णास्वामी ऐयंगर, डा० बसाक आदि की धारणा है कि लौहस्तम्भलेख का चन्द्र और गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त-प्रथम अभिन्न हैं। इस मतकी पुष्टि कई प्रमाणों द्वाराकी जाती है। सबसे पहले कहा जाता है कि जैसे चन्द्रने अपने बाहुबलसे एकाधि राज्य प्राप्त किया था और उसे चिरकाल तक भोगा था, उसी प्रकार चन्द्रगुप्त प्रथमने गुप्तवंशकी शक्ति बढ़ाई थी और स्वयं महाराजाधिराज की पदवी धारणकी थी। दूसरे, चन्द्रके सदृश चन्द्रगुप्त प्रथमने भी बङ्गदेशको जीता था क्योंकि वहाँ कुछ ऐसे सिक्के मिले हैं जिनपर एक ओर चन्द्रगुप्त प्रथम अपनी रानी कुमारदेवीको कुछ देता हुआ प्रदर्शित किया गया है तथा दहिनी और बाँई ओर उन दोनोंके नाम खुदे हैं; और दूसरी ओर सिंहवाहिनी दुर्गा और "लिच्छवयः" शब्द अङ्कित हैं। तीसरे, मेहरौली लेखके अक्षरोंकी सदृशता इलाहाबादस्तम्भ लेखके अक्षरोंसे होनेके कारण यह अनुमान किया गया है कि चन्द्र और चन्द्रगुप्त-प्रथम एक ही थे, परन्तु ये सब तर्क बहुत निर्बल हैं। चद्रगुप्त प्रथम ने बहुत समय तक राज्य नहीं किया जैसा कि "सुचिरं" शब्दसे चन्द्रके सम्बन्धमें विदित होता है। समुद्रगुप्तके नालन्दावाले ताम्रपत्र पर पाचवें वर्षका उल्लेख है, और गयावाले ताम्रपत्र लेखमें नवें वर्षका। यदि ये ताम्रपत्र लेख जाली नहीं हैं और यदि उनमें लिखे हुये वर्ष गुप्तसंवत्के हैं तो यह स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने बहुत थोड़े दिन राज्य किया था। दूसरे, हमारे पास कोई और ऐसा प्रमाण नहीं है कि उसने दूर देशोंमें विजय प्राप्त की थी। प्रयागकी प्रशस्ति में उसके दिग्विजयका कोई वर्णन नहीं है, और यदि उसमें कुछ तथ्य होता तो समुद्रगुप्तको आर्यावर्तके नरेशों से फिर लड़नेकी क्या आवश्यकता थी। पुराणों से तो यह पता चलता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम केवल गङ्गातटवर्ती प्रदेश, प्रयाग शाकेत, तथा मगधका ही शासक था। यथा-

अनुगङ्गँ प्रयागं च शाकेतं मगधाँस्तथा ।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः ॥

फिर जिन सिक्कोंके आधार पर यह कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त प्रथमने बङ्गाल जीता था उनके बारेमें तो कुछ विद्वानोंका मत है कि वे उनके सिक्के नहीं थे किन्तु एक प्रकारके तमगे (medals) थे जिनको समुद्रगुप्तने अपने माता-पिताकी स्मृतिमें बनवाकर बटवाया था। अब रही लेखके अक्षरोंकी बनावटवाली तर्क। यहभी किसी सुनिश्चित अन्तिम निर्णय पर पहुँचनेमें सहायक

नहीं हो सकता है, क्योंकि इसके आधार पर भी सौ पचास वर्ष इधर या उधर हो जाना असंभव नहीं है।

दूसरे दलके विद्वान् स्वर्गीय राखालदास बनर्जी तथा महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री इत्यादि हैं। इनके मतानुसार लौहस्तम्भ लेखका चन्द्र और सुसूनियाँ-गिरि वाले लेखका चन्द्रवर्मन् एक ही व्यक्ति हैं। सुसूनियाँ बङ्गालके बाँकुड़ा (Bankura) ज़िलामें एक स्थान है। वहाँ पत्थर पर खुदा हुआ एक लेख मिला है जिससे मालूम होता है कि महाराज सिंहवर्मन्के पुत्र पुष्करणाधिपति महाराज-चन्द्रवर्मन्ने सुसूनियाँ पर्वत पर विष्णुका चक्र स्थापित किया था उसमें लिखा है:—'पुष्करणाधिपतेर्महाराजसिंहवर्मणः पुत्रस्य महाराजश्रीचन्द्रवर्मणः कृतिः'।

यह पुष्करण, जहाँ चन्द्रवर्मन् शासन करता था, शायद वही स्थान है जिसको आजकल पोखरन कहते हैं और जो राजपूतानाके जोधपुर राज्यान्तर्गत है। यहाँ हमको मन्दसोरके एक शिलालेख पर भी ध्यान देना चाहिए। इसमें संवत् (मालव) ४६१ = सन् ४०४ ई० तथा महाराज नरवर्मन्का उल्लेख है। इसके पिताका भी नाम सिंहवर्मन था। अतएव सुसूनियाँ तथा मन्दसोरके लेखोंका मिलान करनेसे पता चलता है कि दोनों चन्द्रवर्मन् और नरवर्मन्के पिताका नाम सिंहवर्मन् था, और शायद वे दोनों भाई थे। इस चन्द्रवर्मन्की समता इलाहाबादके स्तम्भलेख वाले चन्द्रवर्मनसे भी की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्तसे पराजित होनेके बाद उसने मालवा की ओर अपना शासन स्थापित किया। उसके पश्चात् नरवर्मन् राजा हुआ, और इसके उत्तराधिकारी क्रमशः विश्ववर्मन् और बन्धुवर्मन् थे, जिनका नाम गङ्गधर तथा मन्दसोर लेखोंसे मिले हैं। ये दोनों सन् ४२३ तथा ४३६ ई० में कुमारगुप्त प्रथमके सामन्त थे। इन सब लेखोंका मिलान करने पर वर्मन्का वंश-वृक्ष इस प्रकार प्रतीत होता है:—
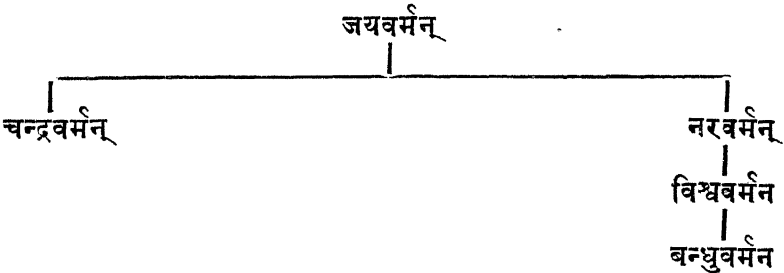
अब प्रश्न यह उठता है कि क्या सचमुच मेहरौली लेखके चन्द्रकी समता सुसूनियाँ पर्वत लेख तथा इलाहाबाद स्तम्भलेखके चन्द्रवर्मनसे की जा सकती है?

इस मतकी पुष्टिमें कई प्रमाण दिये जाते हैं। यथा, मेहरौली लेखके चन्द्रकी भाँति सुसूनियाँ लेख वाले चन्द्रवर्मन्‌ने भी अपनी सत्ता बङ्ग देशमें स्थापित की थी। दूसरे, दोनों लेख वैष्णव सम्प्रदायके हैं। जैसे चन्द्र ने विष्णुपदगिरि पर विष्णुध्वज स्थापित किया था, उसी प्रकार चन्द्रवर्मन् ने सुसूनियाँगिरि पर विष्णुचक्र बनवाया। तीसरे, मेहरौली लेख गुप्तनरेशोंके अन्य लेखोंके समान नहीं है, क्योंकि न तो उसमें वंशवृत्त ही दिया है और न महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक की पदवी ही लिखी है। अतएव बनर्जी तथा शास्त्री प्रभृति विद्वानोंके मतमें चन्द्रको सुसूनियाँ लेखके चन्द्रवर्मन्‌से अभिन्न बतलाना ही ठीक है।

पर इस सम्बन्धमें जो युक्तियाँ दी गई हैं, वे आसानीसे काटी जा सकती हैं। प्रथम, यदि समुद्रगुप्त ने चन्द्रवर्मन्‌को पराजित किया था, तो यह कैसे माना जा सकता है कि गुप्त सम्राटोंके होते हुए भी वह अपनी सत्ता मालवासे जाकर सुदूर बङ्गदेशमें स्थापित कर लेता। पुष्करणके राजाओंके लेखोंसे सिद्ध होता है कि उनमेंसे कोई भी शक्तिशाली नहीं था। दूसरे, सुसूनियाँका चन्द्रवर्मन् केवल महाराजकी पदवी धारण करता है, और मेहरौली लेखका चन्द्र एकाधिराट् था। तीसरे, सुसूनियाँ लेखका चन्द्रवर्मन् बङ्गदेशका ही एक स्थानीय राजा था, क्योंकि पोकरन नामका एक स्थान सुसूनियाँसे लगभग २५ मील दूर दामोदर नदी पर बाँकुड़ा (Bankura) जिलेमें ही है। अतः मेहरौली लेखका चन्द्र सुसूनियाँ लेखके चन्द्रवर्मनसे भिन्न मालूम पड़ता है।

डा० रायचौधरीके मतमें चन्द्रकी समता सदाचन्द्र अथवा चन्द्राँशसेकी जा सकती है। इन दोनों नागवंशीय राजाओंका राज्यकाल आन्ध्रोंके बाद माना गया है। किन्तु इस मतको साबित करनेके लिये अभी हमारे प्रमाण अपूर्ण हैं।

कुछ दिन हुये एक प्रसिद्ध विद्वानने कनिष्कको ही मेहरौली लेखका चन्द्र माना है, परन्तु उनका यह प्रयत्न ठीक नहीं मालूम होता है। यदि उपरोक्त राजाओं में से सब चन्द्रसे भिन्न थे तो क्या हम उसकी समता गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से कर सकते हैं? इस मतकी पुष्टि कई प्रमाणोंसे होती है। प्रथम, मेहरौली लेखकी आखिरी पंक्ति ("प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतोविष्णोर्ध्वजः स्थापितः") पढ़नेसे हमको "परमभागवत" ऐसे विरुदका स्मरण होता है, जिसका प्रयोग लेखों और सिक्कों पर चन्द्रगुप्तके लिये बराबर हुआ है। दूसरे, जिस प्रकार चन्द्रने एकाधिराज्य प्राप्त कर चिरकाल तक उसे भोगा, वैसे ही चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यने अपनी शक्तिको खूब बढ़ाकर लगभग ३७५ ई० से ४१४ ई० तक राज्य किया था। तीसरे, चन्द्रकी भाँति चन्द्रगुप्त द्वितीयने भी

दूर दूर देशोंको जीता था। उदयगिरि लेखके अनुसार वह स्वयं दिग्विजयार्थ मालवा गया था ("कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन")। यह भी सिद्ध है कि बङ्गदेश उसके अधिकारमें अवश्य था। सम्भवतः कालिदासने भी रघुवंश (४) के निम्नलिखित श्लोकमें बङ्गविजयका ही वर्णन किया है—

बङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तम्भ गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु सः॥

चौथे, जैसे कुछ सिक्कों पर 'विक्रमादित्य' उपाधिको संक्षेपमें 'विक्रम' लिखा गया है, वैसे ही शायद मेहरौली लेखमें चद्रगुप्तका संक्षेपरूप 'चन्द्र' हो। पाँचवे, लिपिसे भी यह मालूम पड़ता है कि लौहस्तम्भलेख चन्द्रगुप्त द्वितीयके समयका है।

इन प्रमाणोंमें अवश्य बहुत कुछ तत्व है, परन्तु इस मतके विरुद्ध भी तर्क हो सकता हैं। प्रथम, चन्द्रगुप्त के लिये "परमभागवत"की उपाधि प्रायः प्रयोगकी गई है, इसलिये लेखमें उसका न होना यह साबित करता है कि यह "चन्द्र" कोई अन्य राजा होगा। दूसरे, प्रथम श्लोककी चौथी पँक्ति, "यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः," से समुद्रगुप्तका बोध होना चाहिये, न कि चन्द्रगुप्त द्वितीयका। यह भी मार्केकी बात है कि लेखमें शूरताके लिये "वीर्य" शब्दका प्रयोग किया गया है, न कि विक्रम" शब्दका। तीसरे, यदि सिक्कों पर "विक्रमादित्य" का संक्षेपरूप दिया गया है तो वह स्थानाभावके कारण, परन्तु लोहस्तम्भमें यह बात बिलकुल नहीं घटती है। उसमें स्थानकी कमी तो थी नहीं, तब फिर क्यों नाम संक्षेपमें लिखा जाता है। चौथे, लिपिका प्रमाण बिलकुल अकाट्य नहीं है। उसके आधार पर सौ-पचास वर्ष की भूल अवश्य है। पाँचवे, मेहरौली लेख गुप्तोंके अन्य लेखोंसे भिन्न मालूम पड़ता है, क्योंकि उसमें न तो गुप्तोंका वंश वृक्ष दिया है और न उनकी उपाधियाँ ही।

इन सब तर्क-वितर्कोंसे यह प्रतीत होता है कि यद्यपि हमारे पास कोई ऐसा निश्चित साधन नहीं है जिसके द्वारा हम "चन्द्र"की समताका पूर्णतया निर्णयकर सकें, तथापि अधिकतर सम्भावना यही है कि वह और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य एक ही व्यक्ति थे।

यदि यह बात मान ली जाये तो मेहरौली लेख से विदित होता कि उसने अपनी विजय पताका वाह्लीकदेश तक फहराई थी।

अब प्रश्न यह उठता है कि बाह्लीक थे कौन? महाभारतके भीष्मपर्वके अनुसार बाह्लीक लोग पञ्जाबके निवासी थे, और उनकी राजधानी शाकल (सियालकोट) थी। पुराण उनको नर्मदातटवर्ती माहिष्मतीप्रदेशके शासक

बताते हैं। बराहमिहिर बाह्लीकोंकी गिनती उत्तरके लोगोंमें करता है। कुछ विद्वानोंके मतसे बाह्लीक शौरसेनी प्राकृतके तीन भागोंमें से एक है, और यह भाषा वे लोग बोलते थे जो मालवा और पूर्वीय पञ्जाबके बीचमें रहते थे। ऐलन (Allan) महोदयकी धारणा है कि पह्लव और यवन शब्द की तरह बाह्लीक भी प्राचीन समयमें विदेशियोंके लिये प्रयुक्त होता था। परन्तु इस सम्बन्धमें यह न भूलना चाहिये कि चन्द्र सिन्धु नदीके सात मुखों अर्थात् सहायक नदियों (?) को पारकर बाह्लीक पहुँचा था; अतएव यह देश शायद भारतके बाहर था। कुछ लोगोंके विचारमें बाह्लीक से अभिप्राय बलोचिस्तानका है। परन्तु अधिक ठीक यह प्रतीत होता है कि उससे अभिप्राय बल्ख (Balkan) देशका है। यदि यह मत मान लिया जाय तो भारतके प्राचीन इतिहासमें चन्द्र (चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ?) ही एक ऐसा विजेता था जिसने अपनी सेनायें मध्य एशिया तक भेजीं। कालिदासके रघुवंशसे भी यह प्रतीत होता है कि रघु ने अपनी विजय वैजयन्ती पारसीकोंके देश और वक्षु नदी(Oxus)तक उड़ाई थी। कालिदासके जीवनकालके बारेमें मतभेद अवश्य है, परन्तु यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि वह चन्द्रगुप्त द्वितीयकी राजसभाका सबसे अमूल्य रत्न था, तो यह कोई असम्भव बात न होगी कि उसने रघुके बहाने अपने स्वामीके ही दिग्विजयका वर्णन किया हो। निस्सन्देह सम्राट् चन्द्र भारतके राजनीतिक गगनमण्डलका देदीप्यमान चन्द्र था, जिसके प्रतापरश्मियोंसे उस समयका भारत जगमगा रहा था।

प्राचीन भारत और यूनान

—❀—

यूनानी इतिहासकारों का भारतीय सांस्कृतिक दिग्दर्शन

ले० श्री बैजनाथ पुरी एम.ए., एल.एल. बी.,
लखनऊ

प्राचीन यूनानियोंका बहुत काल तक भारतके विषयमें बिल्कुल अल्प ज्ञान रहा। इस संबन्धमें उनके विचार अनिश्चित, अस्थिर तथा अस्पष्ट थे। यद्यपि व्यापार और वाणिज्य द्वारा भारत और यूनानका सम्बन्ध जुड़ चुका था[1] फिरभी यूनानी भारतको पूर्वीय एथीओपिया[2] समझते थे जिसके निवासी सूर्य्यकी गर्मीके कारण अत्यन्तही काले थे। यूनानी भारतकी बनी हुई चीजोंका[3] जिनमें रांगा और हाथी-दाँत प्रमुख थे, उपयोग किया करते थे किन्तु उनके उद्गम स्थानका उन्हें पता न था। यूनानी साहित्य[4] में भी कहीं-कहीं पर भांति-भांतिके पुरुष और पशुओंका उल्लेख है जिनमेंसे कुछका सम्बन्ध भारतसे और कुछका उसके निकटवर्ती देशोंसे दिखाया गया है। किन्तु यह सब विचार केवल कल्पित थे।

इस अल्प ज्ञानमें सुधार और वृद्धि बहुत काल तक नहीं होसका यद्यपि

---

१ डाक्टर सासके मतानुसार भारत और यूनानके बीच सामुद्रिक व्यापार ईसासे कोई ३००० वर्ष पहिलेसे होता चला आता था। (देखिये Hibbert Lectures 1887) केन्डी साहबका कहना है कि इस संबन्धमें ईसासे सातवीं सदी पूर्वसे पहिले का न तो साहित्यिक और न पुरातत्त्व प्रमाण मिलता है किन्तु छटी शताब्दीके लिये बहुतसे प्रमाण हैं। देखिये J. R A. S (1898)

२ ओडसी १. २३-२४

३ राधाकुमुद मुकर्जी—इन्डियन शिपिंग पृ० ९२.

४ कैम्ब्रिज इतिहास–जिल्द १. पृ० ३९४–५.

सिसास्ट्रिज[1] की अध्यक्षतामें मिश्रयों, सेमिर्मीकी असीरियों और फ़ारसके सम्राट् कुरुप[2] (साइरस) तथा दारयवुश[3] (डैरियस) की कमानमें ईरानियोंके लगातार आक्रमणोंसे भारतकी संस्कृति और सभ्यताका द्वार इन विदेशियोंके लिये खुल चुका था। इसका कारण इन आक्रमणकारियोंकी मनोवृत्ति थी। उनका ध्येय भारतके पश्चिमी भागको जीतना था न कि प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता का दर्शन करना। इसके अतिरिक्त भारत और यूनानके बीचकी दूरी भी इसका कारण थी जिससे इन दोनों देशोंमें पारस्परिक समागम असम्भव-सा था। ईसासे पूर्व छठी शताब्दीमें जबकि सेम्टिक और ऐशियाके निकटवर्ती देश फ़ारस सम्राट्का आधिपत्य स्वीकार कर चुके थे और एक कोनेमें यूनान तथा दूसरे कोनेमें पश्चिमी भारत राजनैतिक सूत्रमें बँध चुके थे, तथा जब भारत और यूनान का धन एकही कोषमें जाता था तथा भारतीय सैनिक यूनानियोंके साथ कन्धेसे कन्धा मिलाकर ईरानी सम्राट् की ओरसे लड़ते थे, इन दोनों देशों का पूर्णतया सांस्कृतिक समागम आरम्भ हुआ और भारतीय सभ्यताकी ओर उनकी आँखें खुलीं।

यूनानी इतिहासकारोंमें सबसे पहिले करचन्दाके साइलकस[4] तथा मिले-

---

१ डायडेरसने इसे साइसोसिय कहा है। कुछ लोगोंने इसकी समानता ओसिसटासन प्रथम और कुछ ने रैमसेससे की है जिसका राज्यकाल विलकिन्सन के मतानुसार ई० पू० १३११–१२४५ तक रहा। राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ होने पर उसने एक बड़ी सेना इकट्ठाकी थी। जिससे ६ लाख पैदल, २४,००० अश्व, २७,००० रथ और १,००० जहाजोंका बेड़ा था और संसारको जीतने, का प्रस्थान किया था। (देखिये अमरीकन साइकलोपीडिया जिल्द १४ पृ० ५२१,)

२ कुरुष (साइरस) और असीरियाकी प्रसिद्ध रानी सिर्मिमीका उल्लेख निअरकसके वृत्तान्तमें मिलता है। उसने सिकन्दरके आक्रमणकावर्णन करते हुये लिखा है कि गेडरोसिया (बलूचिस्तान) की ओर से प्रस्थान करते समय वहाँके निवासियोंने बताया कि अपनी सेनाके केवल २० सैनिकोंके साथ सिर्मिमी और ७ के साथ कुरुप वहाँसे भाग सका था (देखिये–कैम्ब्रिज इतिहास जिल्द १ पृ० ३३१)

३ साइलकसकी दी हुई सूचनाका उपयोग करते हुये दारयवुशने सिन्धुकी घाटी पर अधिकार कर लिया और उसका बेड़ा भारतीय सागरमें घूमने लगा। पराजित प्रदेशोंको एकमें मिलाकर एक क्षत्रपी बनाई गई जो उसके साम्राज्य थे सबसे धनी तथा घनी बसी समझी जाती थी (देखिये–स्मिथ-प्राचीन इतिहास पृ० ४०)

४ इसने केवल कुछ स्थानोंका भौगोलिक-दृष्टिकोणसे उल्लेख किया है (देखिये-डाक्टर लाक पेरिसस पृ० ४२)

रसके हेकाशियस[1] ने भारतके उत्तर-पश्चिम भागका कुछ उल्लेख किया है। किन्तु भारतका वास्तविक वर्णन हिरोडटसने किया है। उसने अपना वृत्तान्त सुने सुनाये मौखिक प्रमाणोंके आधार पर लिखा है और यद्यपि भारतके विषयमें उसका वृत्तान्त अधिक विस्तार-पूर्वक नहीं है,[2] फिर भी उसकी पुस्तकसे उसकी योग्यता तथा अन्वेषण पटुताका पता चलता है। इसके पश्चात् ईरानी सम्राट् आर्टाजरकसीजके चिकित्सक टेसियसने प्रत्यक्षरूपसे सबसे पहिले भारतका वर्णन किया है[3]। ईरानी सम्राट्के चिकित्सक होनेके कारण ई० पू० ४१६–३९८ तक उसे राज्य-सभामें भारतीय पुरुषोंसे मिलनेका भी अवसर प्राप्त हुआ था जिनका उल्लेख उसने अपनी पुस्तकमें किया है। सिकन्दरके आक्रमणसे भारत और यूनानमें सांस्कृतिक सम्पर्क आरम्भ हुआ। सिकन्दरका आक्रमण एक गुप्त रहस्यही रहता यदि उसका वृत्तान्त उन इतिहासकारोंने न लिखा होता जो उसके साथ गये थे। इन इतिहासकारों में कसन्द्रिया का आरिष्टावोलस, क्रीटका निअरकस और सेजिना का आनेसिक्राइटस प्रमुख था। इन इतिहासकारोंने भारतीय संस्कृति और सभ्यता से आकर्षित होकर अपना वृत्तान्त निष्कपटभाव और सचाई से किया है।

मेगस्थनीज और डायमेकस नामक दो प्रसिद्ध इतिहासकार मौर्य सम्राटोंकी राजधानी पाटलिपुत्रमें सीरियन साम्राज्यकी ओरसे राजदूत थे[4]। इन दोनोंके वृतान्तोंको पश्चिमी इतिहासकारों ने हीन दृष्टिसे देखा है तथा इनको अविश्वसनीय और मिथ्यावादी भी कहा है[5]। मेगस्थनीजके वृतान्तके विषयमें सत्यताकी जाँचके लिये यह खोज लगाना आवश्यक होगा कि कहाँ तक उसके सूचना देने वाले विश्वसनीय थे। इसकी पुस्तकका कुछ अंश पाश्चात्य इतिहासकारोंकी पुस्तकोंमें सुरक्षित है। उसकी स्वयं लिखी पुस्तक खो चुकी है।

मेगस्थनीजके पश्चात् पैट्राकलीज[6] तथा पोलिवियस[7] नामक दो यूनानी

---

१ इस यूनानी इतिहासकार और भूगोल शाष्यज्ञने ईनानी सम्राट्की ओरसे धन वसूलनेके लिये उत्तर पश्चिम भारत तथा कई प्रदेशोंकी यात्राकी। उसकी "भोगोल" तथा ऐतिहासिक पुस्तकके कुछ अंश सन् १८३१ में बर्लिन में छपे।

२ देखिये ३, ९७–१०६, ४,४४, १, ६५, ८६

३ इसकी दो पुस्तकें "पारसिका" व "इन्डिका" (जो खोगई) के कुछ अंशों का संग्रह नवी शताब्दी में कोयटस ने किया। इसका अंग्रेजी अनुवाद सबसे पहिले इन्डियन आन्टिक्वेरीमें १८८२ में छपा—

४ देखिये आरियन इन्डिक ५.६.२.

५ स्ट्रावो १५.१.१२., प्लिनी ६.२१.३

६ स्ट्रावों २.६.

७ मैक्रान्डिल—यूनानी साहित्यमें भारत वर्णन पृ० १७

इतिहासकार हुए। पैट्राकलीज़ सिलरकसके पुत्र अतिआकस प्रथम (ई० पू० २८१—२६१) का राज्यकर्मचारी था तथा पोलिवियसके वृतान्तमें ई० पू० १४४ के लगभग भारत और सीरियन साम्राज्यके संबन्ध पर प्रकाश डाला गया है। ईसवी सम्वत्के आरम्भमें एक प्रसिद्ध इतिहासकार स्ट्रावों हुआ जिसका 'भूगोल' वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे लिखे जानेके कारण बहुत प्रसिद्ध और विस्तृत है। इसका वृतान्त महत्वपूर्ण तथा सारगर्भित है। इस पुस्तकमें सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है। स्ट्रावोके पश्चात् प्लिनी, आरियन, आलियन तथा फिलास्ट्रेट नामक यूनानी इतिहासकारों ने भारतीय संस्कृति और सभ्यताका वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त छोटे कुछ और भी इतिहासकार हैं जिन्होंने भारतके विषयमें कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। इन यूनानी इतिहासकारों तथा उनकी लिखित पुस्तकों पर विचार न करके, अब इनमें वर्णित भारतीय सभ्यता पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक होगा।

यूननियोंकी भारत के विषयमें ज्ञान वृद्धिके साथ ही साथ भौगोलिक स्थितिमें भी परिवर्तन आरम्भ हुआ। किन्हीं दो इतिहासकारोंके भौगोलिक दृष्टिकोण एकसे न थे। साइलक्स, हिकेटियस, हिरोडाटस और टेसियस का वृतान्त केवल सिन्धु नदी तक सीमित था क्योंकि वहीं ईरानी साम्राज्यकी सीमाका अन्त होता था। सिकन्दरके इतिहासकारोंने सिन्ध नदीको पार कर पंजाब और सिन्ध प्रदेशका भ्रमण किया किन्तु जैसा कि आरियन ने लिखा[1] है उनकी यात्रा व्यास नदी तक ही सीमित रही, इसलिये उन्होने इसके आगेका वृतान्त नहीं लिखा है। मेगस्थनीज़ने जो पाटलिपुत्रमें बहुत काल तक रहा भौगोलिक-दृष्टिकोणसे भारत का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। स्ट्रावो[2]के वृतान्तमें दक्षिण भारतके कुछ स्थान जैसे "पडियान" का भी उल्लेख है किन्तु प्लिनीका[3] दक्षिण भारतके विषयका वृतान्त विस्तृत है। उसने कलिङ्ग[3] तथा आन्ध्र देशके[4] अतिरिक्त ताम्रपेन[5] अथवा लङ्काका भी वर्णन किया है। यहाँ पर यह कहना अयुक्त न होगा कि जैसे जैसे भारतके भूगोलका ज्ञान यूनानी इतिहासकारोंमें बढ़ा यहाँ की संस्कृति और सभ्यताकी ओर उनका ध्यान अधिक आकर्षित हुआ। उन्होंने भौगोलिक वृतान्तके साथ ही साथ तत्कालीन शासन-प्रणाली, सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक जीवन, धर्म, दर्शन, शिक्षा और कला तथा शिल्पविद्याके विषयों पर भी प्रकाश डाला है। ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे इन

---

१ अंश ४. २ १५. १. ४ ३ ६. १७ (२१)
४ ६. १७ (२२) ५ ६. १७ २२ (२४)

वृतान्तोंका समर्थन भारतीय प्रमाणों द्वारा करने से इनकी महत्ता और भी बढ़ जाती है। भौगोलिक वृतान्तमें छोटे छोटे विषयों पर प्रकाश न डालकर, यहाँ पर यह कहना अयुक्त न होगा कि यूनानी इतिहासकारों ने यहाँकी ऐक्यताको सराहा है। यही ऐक्यता अब तक चली आती है। भारत दूसरे अन्य देशोंसे अबाध्यरूप से प्रथक है। इसकी प्राकृतिक सीमायें अलंघनीय हैं और किसी विदेशीका भारत पर सत्ता जमाना कठिन रहा है किन्तु ऐतिहासिक प्रभावके आगे उसे झुकना पड़ा। अनार्योंके समयके पश्चात् आर्य्योंने इसे संस्कृति और सभ्यताके क्षेत्रमें एक उच्च और श्रेष्ठ स्थान पर पहुँचाया। इसीके फलस्वरूप इन यूनानी इतिहासकारोंने इसकी सभ्यताकी तुलना तत्कालीन मिश्री तथा अन्य दूसरे-बढ़े-चढ़े देशों से की है।

राजनैतिक क्षेत्रमें हिरोडाटसने पच्छिम भारत पर ईरानी प्रभुता अथवा सत्ताका उल्लेख किया है[1]। इसका समर्थन बिहिस्तां, परसिपालिस तथा नकसीरुस्तमके लेखोंसे होता है जो ईरानी सम्राट दारयवुशने खुदवाये थे। एक स्थानपर उसने लिखा है[2] सम्राट दारयवुशने साइलकसको सिन्ध नदी की खोज लगानेके लिये भेजा था। इसके पश्चात् उसने इस स्थान पर आक्रमण करके अधिकार कर लिया और यहाँ एक क्षत्रपी बनाई। इस क्षत्रपीकी सीमा नियुक्त करना कठिन है किन्तु यह आरिया (हेरात) अराकोशिया (कन्धार) और गन्धरिया (गान्धार) से भिन्न थी। यह क्षत्रपी कोई ३६० टैलेन्ट सोनेकी राख जो वर्तमान कालमें कोई १३ लाख पौंडकी होती है, ईरानी सम्राट्को प्रतिवर्ष भेंट करती थी। ईरानी आधिपत्य ज़रुमसीज़के समय (४८६-४६५ ई० पू०) में भी रहा। दारयवुशके इस पुत्र और उत्ताराधिकारीने एक बड़ी सेना लेकर जिसमें भारतीय सैनिक भी थे, यूनान पर धावा बोल दिया किन्तु इसमें उसकी हार हुई[3]। हिरोडाटसका कहना[4] है कि इस ईरानी सेनामें भारतीय सैनिक आर्टीजरकसीज़के पुत्र करमज़थेइसकी अध्यक्षतामें ईरानी सम्राटकी ओरसे युद्ध करने गये थे। इससे यह पता चलता है कि उस समय तक ईरानियोंका उत्तरी-पच्छिमी भारत पर आधिपत्य था।

ईरानी आधिपत्यके क्षीण होतेही पंजाब और सिन्धु प्रदेशमें स्थित जातियोंमें राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्रताकी लहर उठी। सिकन्दर महान्के आक्रमण के समय इन प्रजातन्त्री राष्ट्रोंने भारतीय झन्डेके नीचे एकत्र होकर उसका बड़ी

---

१ ३,९८   २ ६, ४४
३ ७६५   ४ ७८६

वीरताके साथ सामना किया। तक्षसिलाके अम्भीऐसे कुछ "जयचन्द्रों" ने उससे मिलकर अपनेको आत्मसमर्पण कर दिया किन्तु सिकन्दरने भी इन भारतीयवीरों की वीरताको सराहा है। इन प्रजातन्त्र राष्ट्रोंके विषयमें निअरकसका कहना [1] है कि भारतीय पुरुष इन राष्ट्रोंमें दण्डवत् प्रणाम न करके केवल हाथ जोड़ कर नमस्कारही करते थे। इससे उनमें दास्यता और भृत्यभावका अभाव था। एक स्थान पर आनेसिक्राइटस[2] कहता है कि भारतीय सम्राट् सुन्दरताकी दृष्टिकोणसे चुने जाते थे। यहाँ पर सुन्दरता विस्तीर्णभावसे लीगई है और इससे उनका प्रयोजन केवल शरीरकी सुन्दरतासे ही नहीं किन्तु शुद्ध आचरण तथा आरोग्यता से भी था। इसका प्रमाण महाभारतके उद्योग पर्व[3] में भी मिलता है जिसमें लिखा है कि प्रतापके पुत्र देवर्षिके सिंहासनारूढ़ होनेके समय समस्त प्रजाने अनुमति नहीं दी क्योंकि वह एक कठिन रोगमें ग्रस्त था। इसी प्रकार प्रजाने विचित्रवीर्यको निकाल दिया क्योंकि वह अत्यन्त भोगी और विलासी था; यहाँ यह कहना अयुक्त न होगा कि राज्यतन्त्र राष्ट्रोंमें भी प्रजातन्त्रके लक्षण पाये जाते थे और राजा अपनी रक्षाके लिये प्रजा पर अवलम्बित था। यह प्रथा प्राचीन कालसे चली आती है और यूनानी इतिहासकारोंने भी उसका उल्लेख किया है। उस समयके प्रजातन्त्र राष्ट्रोंमें भल्लाई, अकसीड्राकाई, शिवि, अगलसाई, तथा क्षत्रिय नामक कई राष्ट्र थे। राजनैतिक विपत्तिके समय उन्होंने देशप्रेम और पराक्रम का नमूना दिखा दिया है। सिकन्दरके आक्रमणके पश्चात् भारतीय सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य्यने सिल्यूकसके आधीन प्रदेशों तक अपना अधिकार जमा लिया था। उसकी शासन-प्रणालीका वृहत् वृत्तान्त मेंगस्थनीजने अपनी पुस्तकमें लिखा है। यहाँ केवल सूक्ष्मरीतिसे उसका वर्णन करनाही उपयुक्त होगा। साम्राज्य का अधिपति सम्राट् था और सब कार्य्यों पर उसका अधिकार था। वह अपना प्रासाद केवल युद्धके समयमें ही नहीं त्यागता था, किन्तु शासन-प्रबन्धमें वह अपना सम्पूर्ण दिवस बिताता था। इस शासन-प्रबन्धमें सम्राट्के आधीन सचिव और प्रधान थे। संग्रामिक दृष्टिकोणसे सम्राट्का सन्तोष केवल युद्ध-भूमिमें सैनिक भेजनेसे ही नहीं था किन्तु वह स्वयं अपने निज कार्य्योंको त्याग कर युद्ध-भूमिकी ओर प्रस्थान करता था।[4] सम्राट्का जीवन भयसे वंचित न था और अपनेको षड्यंत्रसे बचानेके लिये किसी एक स्थान पर उसका शयनगृह न

---

१ स्ट्रावों १५-१-३०   २ यही-   २७ अध्याय १४९

३ सट्रवो १५-१-४८   ४ावो १५-१४८

होता था। प्रान्तिक शासनप्रबंधका उल्लेख कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें[1] मिलता था जिसकी सत्यताका प्रमाण दिव्यवदान[2] तथा महाबोधिवंशसे[3] लगता है। प्रान्तीय राजधानियाँ तक्षशिला, उज्जैन, तोशली तथा स्वर्णगिरि थी। इसके अतिरिक्त स्थानिक प्रबन्धका उल्लेख मेगस्थनीजने बहुत विस्तारपूर्वक किया है।

प्राचीन भारतमें राष्ट्र और समाजका अपूर्व रूप था। भिन्न होते हुये भी वे एक दूसरेसे प्रथक न थे। दोनोंही अपने-अपने क्षेत्रमें स्वतंत्र थे। सामाजिक विषयों पर राष्ट्रका हस्तक्षेप बहुतही कम था। सामाजिक विभिन्नताके कारण राष्ट्रीय क्षेत्रमें उथल-पुथल होते हुए भी उसने अपना अस्तित्व स्थापित कर रक्खा था। एक ओर युद्ध होरहा था और दूसरी ओर समाज अपना कार्य्य सुचारुरूप से चला रहा था। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू-समाज तथा वर्णाश्रम धर्म का रूप वही है जो सहस्रों वर्ष पहिले था। इस समाजको मेगस्थनीज[4] ने ७ भागोंमें विभाजित किया है—ब्राह्मण और दर्शनिक, साधारण जनता, चरवाहे तथा शिकारी, ब्यापारी और मजदूर, योद्धा, रक्षक तथा सचिव और पंच। यहाँ यह कहना उपयुक्त होगा कि सामाजिक विभागके सदस्य केवल अपनेही विभागमें विवाह कर सकते थे किन्तु मेगस्थनीजका कहना है कि दार्शनिकोंको अपने गुणके कारण इस विषयमें पूर्ण स्वतंत्रता थी। यह नियम केवल रक्तकी शुद्धता तथा विद्वत्ताकी रक्षाके लिये ही बनाये गये थे। सामाजिक क्षेत्रमें इन यूनानी इतिहास-कारोंने कई विषयों पर भी प्रकाश डाला है।

विवाहके प्रश्न पर सबसे पहिले सिकन्दरके इतिहासकारोंने प्रकाश डाला है। उन्होंने धार्मिकके अतिरिक्त अधार्मिक वैवाहिक प्रथाओंका भी उल्लेख किया है। अरिस्टाबोलसका कहना है[6] कि दरिद्र पुरुष हाटमें कन्याको बेंच कर उद्धार पाते थे। यह आसुर प्रथा थी। निअरकस लिखता है[7] कि कुछ भारतीय जातियाँ अपनी कन्याको उपहारके रूपमें केवल विजयी पुरुषको दे देते थे। मेगस्थनीजने[8] बहुविवाह तथा अविविवाहका उल्लेख किया है जिसके अनुसार बैलोंकी एक जोड़ी कन्याके पिताको देने पर कन्या उपहारमें मिल जाती थी। उसने यह भी लिखा है कि विवाहका उद्देश कुछके लिये जीवन संगिनी ढूढ़ना तथा आनन्द उठाना और कुछके लिये गृहको बालबच्चोंसे भरना था। स्ट्राबोंने लिखा है[9] कि कथियन

---

१ ट्रवावो १०–३८ (शर्म्मा शास्त्री)
२ पृष्ठ ४०७
३ पृष्ठ ६८
४ स्ट्रावो १५–१–३६–४१
५ स्ट्रावो १५–१–४८
६ स्ट्रावो १५. १. ६२
७ ,, १५. १. ६६
८ ,, १५. १. ५४ अंश २७
६ ,, १५. १. ३०

जातिमें पुरुष और स्त्री एक दूसरे को चुनते थे तथा पतिकी मृत्युके पश्चात् स्त्रियाँ सती हो जाती थीं। यह गंधर्व विवाह था और स्त्रियोंका सती होना उनके अपने पतिके अगाध प्रेमका प्रदर्शक था। आरियन लिखता है[1] कि किसी प्रकारकी दहेजकी प्रथा न थी किन्तु युवावस्था आते ही पिता अपनी पुत्रीको समाजके सामने लाकर पौरुष बलमें विजयीको अर्पण कर देता था। यद्यपि कुछ यूनानी इतिहासकारोंने भारतमें बहुविवाहका उल्लेख किया है किन्तु साथ ही साथ उन्होंने भारतीय स्त्रियोंके अगाध पति-प्रेमको भी सराहा है जिसके फलस्वरूप अपने पति की मृत्युके पश्चात् वे सती हो जाती थीं। स्ट्राबो का कहना है[2] कि सती न होने पर स्त्रीको अपमानजनक जीवन व्यतीत करना पड़ता था। आनेसिक्राईटसने इस प्रथाको काथियन राष्ट्रमें केवल क्षत्रियों तक सीमित माना है। मेगस्थनीजने इसका उल्लेख नहीं किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि यह प्रथा पंजाबमें केवल क्षत्रियों तक सीमित थी। भारतीय सामाजिक जीवन उच्च कोटिका तो था ही किन्तु साथ ही साथ भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें कुछ विशेषतायें पाई जाती थीं जो स्वाभाविक था। निअरकसका कहना है[3] कि भारतीय पुरुष घुटनों तकका कुरता पहिनते थे, कन्धेके दोनों ओर तक डुपट्टा डालते थे और सर पर पगड़ी बाँधते थे। धनी व्यक्ति हाथी दाँतके कर्णफूल पहिनते थे तथा अपनी दाढ़ीको भिन्न भिन्न रंगोंसे रंगते थे। मेगस्थनीजका लिखना है[4] कि भारतीय पुरुष सोनेसे कढ़े हुये वस्त्र पहिनते थे जिनमें बहुमूल्य मणियाँ लगी रहती थीं तथा ओढ़नेके लिये बेल बूटोंसे कढ़ा हुआ सुन्दर मलमल था। उनके पीछे सेवक छाता लेकर चलते थे। स्ट्रावोका कहना है[5] कि सजावटके लिये पुरुष अपनी दाढ़ीको भाँति भाँतिके रंगोंसे रंगते थे। जनताका भूषणोंसे अनुराग था किन्तु उनका जीवन सरल था। इन इतिहासकारों द्वारा वर्णित वस्त्रों तथा भूषणोंकी समानता मारहुतकी मूर्तियोंसे की जा सकती है। यूनानी इतिहासकारोंने भारतीय समाज सम्बन्धित विषयों पर भी प्रकाश डाला है किन्तु उन पर सूक्ष्म रीतिसे यहाँ विचार करना अनावश्यक होगा। इनके वृतान्तसे यह पता अवश्य चलता है कि भारतीय सामाजिक जीवन पर उस समय तक विदेशी छाप नहीं पड़ सकी थी। सामाजिक उन्नतिका कारण आर्थिक जीवन पर मुख्यतया निर्भर रहता है। जिनके वर्णनोंसे पता चलता है कि उस समयका आर्थिक जीवन भी बढ़ा-चढ़ा था।

---

१ „ १५. १. ६२
२ अंश १७
३ आरियन १६
४ अंश २७ स्ट्राबो १५. १. ५४
५ १५. १. २०

यद्यपि भारतवासी राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रोंमें बढ़े चढ़े थे, पर उनका आर्थिक जीवन भी हीन न था। आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये उन्हें एक दूसरेका सहारा लेना पड़ता था। इस प्रकार उस समयमें भी अर्थशास्त्रकी उत्पत्ति, विभजन, अदल-बदल तथा पूर्ति विधियोंका पूर्णतया प्रचलन था। भारतीय आर्थिक जीवनका विषद वर्णन सिकन्दरके इतिहासकारोंने किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि सामाजिक जीवनके साथ ही साथ यहाँ पहुँचने पर उन्हें यहाँके आर्थिक जीवनकी सत्यताका भी अनुभव हुआ था। निअरकसने संगठित उद्योग-धंधोंका भी उल्लेख किया है जिसमें बटाईकी विधिका पता चलता है। प्रति वर्ष हर एक पुरुष अपनी आवश्यकतानुसार अन्न ले लेता था। अपना अपना भाग लेनेके लिये यह अनिवार्य था कि उसने उपजके लिये उद्योग अवश्य किया हो। इस प्रकार उद्योगसे उत्पत्ति, विभजन तथा अदल-बदलके पश्चात् इच्छाओंकी पूर्ति होती थी। यह आर्थिक जीवन बहुतसे धन्धोंसे परिपूर्ण था। तत्कालीन कृषक वर्तमान कालकी तरह ही जोत कर अन्नको उपजाता था। राजनैतिक उथल-पुथलका कृषकके जीवनसे कुछ भी सम्बन्ध न था। रेसियसने[1] धान, निअरकस तथा उसके साथके अन्य यूनानी इतिहासकारोंने चावल और आनेसिक्राइट्सने[2] विसमोस नामक गेहूँसे छोटे अन्नके दानेका उल्लेख किया है। मेगस्थनीज़ने[3] तो कृषि केवल उन तक सीमित रक्खी है जो चरवाहे कहलाते थे। उसका कहना[4] है कि प्रति वर्ष फल और अन्नकी दो फसलें होती थीं। इसका समर्थन एसेस्कोनीजने[5] भी किया है। स्टावोने[6] भिन्न भिन्न ऋतुओंकी भिन्न-भिन्न उपजोंका वर्णन किया है। वर्षा ऋतुमें ज्वार, चावल, तथा विसमोस बोया जाता था और शरद्में गेहूँ, जौ और दाल बोई जाती थी। आरियनने[7] भी मेगस्थनीज़की भाँति, कृषि को केवल एक जाति तक सीमित रक्खा है, जो भूमि जोतने वाले कहलाते थे। इन यूनानी इतिहासकारोंने आर्थिक जीवन सम्बन्धी अन्य विषयों पर भी प्रकाश डाला है—जैसे भूमिकी उपज और वनस्पतियाँ, व्यवसाय, खनिज पदार्थ, पशुपालन इत्यादि। इससे पता चलता है कि पुरुषोंका व्यवसाय केवल कृषि ही तक सीमित न था किन्तु पशुपालन और वाणिज्य द्वारा

---

१ स्ट्राबो १५. १. ६६
२ अंश २२
३ स्ट्राबो १५. १. १८
४ अंश ३३ स्ट्राबो १५. १. ४०
५ „ १४. १. २०
६ १५. १. १३
७ अंश ११

भी जीवन व्यतीत होता था। पुरुष केवल अपनी ही उपजसे सन्तुष्ट न थे किन्तु अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये उन्हें दूसरोंका अवलम्ब भी लेना पड़ता था। यह मानी हुई बात है कि उस समयका आर्थिक जीवन उच्च कोटिका था, और अर्थशास्त्रके सिद्धान्तों पर आश्रित था।

सादा जीवन और उच्च विचार पर आश्रित भारतीय संस्कृति और सभ्यता मिश्री और असीरी सभ्यताके अनात्मवादी सिद्धान्तों से भिन्न थी, तथा मानसिक और धार्मिक विचारोंमें भारतवासी बहुत बढ़े-चढ़े थे। इनके धार्मिक और मानसिक विचार वैसे ही उच्च थे जैसे कि गायत्री मंत्रके एक एक शब्द से टपकते हैं। वास्तविक तत्वोंको समझनेके लिये गूढ़ विषयों पर वादा-विवाद होना स्वाभाविक था। मेगस्थनीजका[1] कहना है कि ब्राह्मण और सोफिस्ट (साधु) मृत्यु और पुर्नजन्म इत्यादि जटिल विषयों पर वादाविवाद किया करते थे। उनका विचार था कि यह जीवन वस्तुतः काल है और उसी समय से प्रारम्भ हो जाता है जब बच्चा माँ के गर्भमें प्रवेश करता है। उसका वास्तविक जीवन तो मृत्युके पश्चात् ही प्रारम्भ होता है। इस वृतान्त की तुलना ब्रह्जातके सिद्धान्त से की जा सकती है, जिसका ध्येय है कि वास्तवमें संसार असत्य है और केवल ब्रह्म ही सत्य है। इस विषयकी सब से अच्छी व्याख्या शंकरने की है। उन्होने इस जीवनको एक बड़ा स्वप्न कहा है, और कहा है कि मृत्युके पश्चात् ही जागृत अवस्था आरम्भ होती है। इन उच्चकोटिके विचारोंके अतिरिक्त यूनानी इतिहासकारोंने[2] कुछ देवता जैसे डायओनिसस (शिव) और हेराक्लीज़ (कृष्ण) का वर्णन किया है। मेगस्थनीज़ने इन देवताओंको यूनानी रंगमें रंगना चाहा है। किन्तु वास्तवमें यह वर्णन भारतीय विचार पर आश्रित थे। डायओनिसस अथवा शिवका वर्णन कि उनके पीछे एक सेना रहती थी जो मदिरा पिये हुये मस्त रहती थी तथा ढोल और डमरूके साथ चलती थी, शिवजीके वर्णनोंसे मिलता है। आरियन[3] के मतानुसार हेराक्लीज़ (कृष्ण) को सूरसेन नामक एक स्वतन्त्र जाति पूजती थी जिनके दो नगर सिथौरा (मथुरा) और क्लेसवोरा (वृन्दावन) थे और जोवेनेस (जमुना) नामक एक नदी उनके देशसे होकर बहती थी। इनके अतिरिक्त भारतवासी जनसामत्रियस, गंगा तथा अन्य देवताओंको भी पूजते थे[4]। जनसामत्रियस की समानता इन्द्रसे की जा सकती है क्योंकि वह पानी बरसाता था। इन

---

१ अंश ४१ — २ स्ट्रावो १५. १. ६८

३ अंश ८ — ४ स्ट्रवो १५. १ ६९.

इतिहासकारोंने धर्मके साथ ही साथ दर्शन पर भी प्रकाश डाला है। धर्म और दर्शनका घनिष्ट सम्बन्ध है। दर्शनके बिना धर्ममें कोई तत्त्व नहीं है और धार्मिक विचारोंके बिना दर्शन शास्त्रका कोई मूल्य नहीं है। प्रत्येक दार्शनिक विचारों में धर्मकी मात्राही प्रधान रहती है। इसीसे जनता उसपर ध्यान देती है। यूनानी इतिहासकारोंने धर्म और दर्शन को एक में ही मिला दिया है। उनके दार्शनिक वर्णनोंसे ही तत्कालीन धार्मिक अवस्था का पता चलता है। इन्होंने दर्शनको रूप ही तक सीमित रक्खा। इन तपस्वियोंमें ब्राह्मण और श्रमण मुख्य थे। श्रमण हाइलोबाई नामक तपस्वी, जो जंगलोंमें रहते थे, आदरणीय थे[1]। वह जंगली फल तथा पत्तों पर निर्वाह करते थे। भारतीय दार्शनिक विचार कर्मके सिद्धान्त पर आधारित थे। साथ ही साथ आत्माके आवागमन और मायामें भी उनका विश्वास था। जीवन सिद्धान्त सम्बन्धी विषयों पर स्त्रियाँ भी विचार करती थीं किन्तु उस समय वे गार्हस्थ्य जीवनसे अलग रहती थीं। स्ट्रावोने पञ्चतत्वपर[2] भी प्रकाश डाला है। इन तत्त्वोंमें उसने जलको प्रधान कहा है। धर्म और दर्शन के अतिरिक्त शिक्षाविधिके विषयमें मेगस्थनीजने[3] लिखा है कि विद्या केवल ब्राह्मणों ही तक सीमित थी। उसका कहना है कि ३७ वर्ष तक ब्रह्मचर्य रहकर पुरुष गार्हस्थ्य जीवनमें प्रवेश करता था। लिखावटके लिये निअरकसके अनुसार कपड़ेका प्रयोग होता था किन्तु प्लिनीका कहना है कि पैपिरस वृक्षसे काग़ज़ बनता था तथा ताम्रपत्र पर भी लेख लिखे जाते थे।

यूनानी इतिहासकारोंने कला तथा शिल्प विद्याके विषयका वर्णन कम किया है। मेगस्थनीजने केवल पाटलिपुत्रके प्रासादका ही वर्णन किया है जिसकी सुन्दरताको "सूसा" और "यकवताना" तक न पासकते थे। इन इतिहासकारों द्वारा वर्णित भारतीय संस्कृति और सभ्यताकी एक हलकी झलकसे भी यह प्रतीत होता है कि यूनानी जिन्हें अपनी संस्कृति पर गर्व था, भारतीय सभ्यताकी इस झलकसे वंचित न रह सके। इनके मतानुसार भारत प्राचीन था और इसकी सभ्यता उच्च थी। यह प्राचीन इसलिये था कि पुरुष और हिमालयकी उत्पत्ति साथ साथ हुई थी, किन्तु इसकी सभ्यताकी उच्चताके कारण कोई देश प्राचीन संसारमें इसकी बराबरी न कर सका। प्राचीन मिश्री हिट्टी तथा असीरिन सभ्यता मिट चुकी है पर भारतीय सभ्यता आज भी वैसी ही है जो दो सहस्र वर्ष पहिले थी। उसका अस्तित्व अब भी बाकी है।

१—स्ट्रैवो १५. १. ६१. २—,, १५. १. ५९
३—अंश ४१ ४—स्ट्रावो १५. १. ६७

कवि कुलगुरु कालिदास और हिन्दू-संस्कृति

लेखक—

साहित्याचार्य श्री केदारनाथ शर्म्मा,

शास्त्री, साहित्य-शिरोमणि, काव्यतीर्थ

भू० पू० सम्पादक—'सुप्रभातम्', काशी

यस्याश्चोरश्चिकुर-निकरः, कर्णपूरो मयूरः,
भासो हासः, कविकुल-गुरुः कालिदासो विलासः ।
हर्षो हर्षो, हृदय-वसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः,
सैषा श्रेयो दिशतु कविता-कामिनी दिव्यरूपा ॥
यदुन्मीलन शक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतन-विश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम् ॥

आज पराधीनताकी पराकाष्ठा पर पहुँची हुई आर्य जातिकी कुलीनता, महत्ता, विश्वगुरुता और प्राचीनताके ज्वलन्त प्रमाणोंमें कविकुल गुरु कालिदास का भी उच्चतम स्थान है। हमें आर्य साहित्यके गौरव रवि इस महाकविके लिये जितना अगाध प्रेम, असीम सम्मान, अतुल गर्व और अनन्त गौरव-गरिमा है; पश्चिमीय भूमण्डलके उच्चकोटिके विद्वान् सहृदयोंके हृदयोंमें भी उससे कम आदर और आकर्षण नहीं है।

दुःखका विषय यही है कि जब हम अपने महाकविका वाह्य-परिचय प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं तो हमें भग्न-मनोरथ होकर रह जाना पड़ता है। हमारे संस्कृत-वाङ्मयमें प्रामाणिक और शृङ्खलाबद्ध इतिहासका अभाव है, प्रत्युत इसके

विपरीत, रूपकपूर्ण कल्पनामय पौराणिक ढंगकी आख्यायिकाओं एवं दन्त-कथाओं की इतनी भरमार है कि उस जटिल जालके अभ्यन्तरसे वस्तुस्थितिका समुचित पता लगाना भी कठिन कार्य है। अंग्रेज पुरातत्त्वज्ञोंसे लेकर आजतकके भारतीय प्रत्न-तत्त्व-वेत्ता इस बातके अन्वेषणमें प्रवृत्त हैं—अतः अपनी असमर्थता के कारण इस विषयकी ओरसे शिथिल प्रयत्न होकर हम केवल कविकुल गुरुके उन अन्तरंग विषयोंकी ओर आकृष्ट होनेके लिये अधिक उत्सुक हैं जिसके कारण वे संस्कृत-काव्य-जगत्‌के प्रधान आचार्य माने गये हैं।

प्रत्येक जाति या समाजके स्थूलरूपेण तीन युग माने जाते हैं—उत्थान युग या उत्कर्ष युग, मध्य युग और अपकर्ष युग। जातिके साथ उसकी संस्कृति, सभ्यता और उसके वाङ्मयकी भी ये ही अवस्थाएँ होती है। संस्कृतका उत्थान-काल ऋग्वेदसे रामायण काल तक था। रामायण कालीन भारत, रामराज्य हमारे उत्कर्ष युगका अन्तिम समय था। रामराज्यके अनन्तर मध्य युगका प्रारंभ होकर वेदव्यासके समय उसका मध्याह्न और कालिदासके समय मध्ययुगका अन्त होकर अन्तिम युगका प्रारम्भ होना चाहता था। इस कालमें देशकी आध्यात्मिक और नैतिक उन्नतिका लगभग अन्तसा हो चुका था, भारतीय जनता भौतिक-उपासनामें आसक्त होने लगी थी। कठोर आत्मसंयम और सुदृढ़ नैतिक नियमों में शैथिल्यका भाव था, जन समाज धीरे धीरे विलासिताकी ओर अग्रसर होने लगा था।

इस समय प्राचीन अध्यात्म शास्त्र, दर्शन शास्त्र आदिमें नवीन आविष्कार बन्द होकर उन्हें नियमित किया जाने लगा था। यह आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्वों पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार, आलोचन, पर्यालोचन, संस्करण और परिष्करण का समय था। जैमिनि, कणाद, पातञ्जलि आदि विद्वान् इस समय अपने विचारों को संग्रहीत कर चुके थे। आयुर्विज्ञान-शास्त्रकी संहिताएँ भी परिष्कृत और पुनः सम्पादितकी गयीं। ईसाके प्रथम शतकमें ही पुरुषपुर (पेशावर) में चरक नामक विद्वान्‌ने आयुर्वेद-संहिताओंका संपादन किया था।

कालिदासके समय भारतीय-सभ्यता केवल व्रत, यज्ञ, तप आदि कठोर नियमोंके पालन करने या युद्ध प्रियता, नवीन राष्ट्र-निर्माण आदिमें नहीं रह गयी थी। इस सभ्यतामें विलासिता, सौन्दर्योपासना, शिल्प रुचि, चित्रकला शिष्टाचार, आध्यात्मिक एवं सांसारिक विषयोंके सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वोंके आलोच-नात्मकज्ञान आदि विषयोंका भी समावेश था। जनकके समक्ष बड़े बड़े योगी ऋषि महर्षि ज्ञान प्राप्तिके लिये आते थे। यह एक रामायण कालीन आदर्श था।

युधिष्ठिरके समय व्यास आदि ऋषि राजाओंके उपदेशक थे, द्रोणाचार्य जैसे शिक्षक और कृष्ण ऐसे राजनैतिक सलाहकार भी थे। लेकिन कालिदासके आश्रयभूत राजा, यदि प्रातःकाल किसी धार्मिक गुरुसे धर्म-कथा सुनते थे तो दूसरे समय बड़े महाकवियोंकी रचनाओंका आनन्द भी लेते थे। उनके रनिवासोंमें वीणा और मृदङ्गकी धूम मची रहती थी। उनके अन्तःपुरमें नृत्य-नाट्य कलाओं के शिक्षक भी नियुक्त होते थे। राज-गण स्वयं कलाओंमें प्रवीण होते थे। प्रकृति-सौन्दर्यका आनन्द लेनेके लिये उद्यान-विहार, जल-विहार, शैल-विहार आदि आमोद-प्रमोदका भी पर्याप्त प्रबन्ध था।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि देशमें प्राचीन परम्परागत धर्मका नामही मिट गया था और आध्यात्मिकताका लोपही होगया था। ये सब वस्तुएँ यथा पूर्व ही थीं परन्तु उनके साथ इन वस्तुओंका नवीन समावेश होगया था। उस समयके राजा लोग विलास-वासना वासित हृदय और सौन्दर्योपासक होनेके साथ ही प्राचीन मर्यादाके प्रति परम आदर भाव रखते थे। वे प्रजा-पालनमें भी शिथिल-प्रयत्न न थे, विद्वानों और वैदिक आज्ञाओंका पालक थे। तपस्वियों और बुद्धिमानोंके आदर-सम्मानमें अपना गौरव भी समझते थे परन्तु साथ साथ पूर्वोक्त बातें भी उनमें प्रविष्ट हो गयी थी। ऐसेही समयसे संस्कृत-साहित्य-गगन में समस्त कलाओंसे पूर्ण कालिदास-चन्द्रका उदय हुआ था।

कालिदास पूर्ण कवि थे। उनमें कविके सभी गुण थे। वास्तवमें कविताका अन्तिमलक्ष्य कान्तासम्मित उपदेश है। कालिदासके प्रत्येक ग्रन्थ और प्रत्येक कथानकसे उसी एकमात्र उपदेशकी ध्वनि और प्रतिध्वनि निकलती है। उन्होंने भारतीय आर्य-सभ्यताकी मर्यादाको अक्षुण्ण रखते हुए काव्यों और नाटकोंकी रचना-शैलीका नवीन परिष्कार करके कवियोंके लिये महान् शिक्षकका काव्य तो किया ही है साथ ही तत्कालीन राजा-महाराजों और साधारण जन-समाज के सम्मुख आर्य संस्कारोंकी महत्ताको सरलसे सरल और अतिशय आकर्षक बनाकर एक महान् सुधारक या नेताका भी कार्य-सम्पादित किया है। एक दो उदाहरणोंके द्वारा हम इसे व्यक्त करनेका प्रयत्न करेंगे।

कालिदासकी कविताके सम्बन्धमें कहनेके लिये बहुत समय और विवेचनकी आवश्यकता है। संक्षेपमें यही कहा जासकता है कि इनकी कविता में सबसे बड़ी विशेषता सरलताकी है। इनकी भाषा इतनी मँजी हुई है कि जिसके द्वारा वे कठिन से कठिन भावोंको सरलता से पाठकोंके हृदयों पर अङ्कित करनेमें सर्वाधिक समर्थ होते हैं। यह सौभाग्य किसी कविको प्राप्त नहीं

है। जिन लोगोंने इनके काव्यों और नाटकोंका अध्ययन किया है, वे भली भाँति उसे जानते ही हैं। फिर भी एक दो उदाहरणोंके उद्धरणका लोभ हम संवरण नहीं कर सकते ; देखिये—

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनि-होम-धेनुः।
गङ्गा-प्रपातान्त-विरूढ शष्पं गौरी-गुरोर्गह्वरमाविवेश ॥
स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासन बन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेवतां भूपतिरन्वगच्छत् ॥

इसी प्रकार दूसरी विशेषता वर्णन-सम्बन्धी है। अन्यान्य कवि अनेक लम्बे-लम्बे पदों और छन्दों वाले श्लोकोंमें आवश्यकतासे अधिक वर्णन कर जाने पर भी जिस भावको व्यक्त नहीं कर पाते, कालिदास एक छोटेसे पद, वाक्य या एक साधारण उपमा द्वारा उसे सरलतासे व्यक्त कर देते हैं। कादम्बरी के उत्तर भागमें एक श्लोक द्वारा कविने जिस अर्धनारीश्वरके रूपको व्यक्त करनेका प्रयत्न मात्रही किया है उसे कालिदासने ३ अक्षरोंके पदोंवाली एक छोटीसी उपमा द्वारा अतिशय सुन्दरतापूर्वक कर डाला है; देखिये :—

देहद्वयार्धघटनारचितं शरीरमेकं द्वयोरनुपलक्षितसन्धिभेदम्।
वन्देसुदुर्घटकथापरिशेष सिद्ध्यै सृष्टेगुरू गिरि सुतापरमेश्वरौतौ ॥

इस इतने बड़े वाक्य-विन्यासका सारातत्व कालिदासने केवल इतनेमें ही कह दिया—'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'। इसी प्रकार जिन विषयों के वर्णनमें कवियोंने सर्गके सर्ग रंग डाले हैं और पाठकोंके चित्तको विरस बना डाला है, उन्हीं विषयोंको कालिदासने इतनी सरल, संक्षिप्त और सहजसी पंक्तियोंमें लिख डाला है कि उनके उन कतिपय श्लोकोंके सामने सर्गके सर्ग नीरस और व्यर्थ मालूम होते हैं। कहीं कहीं तो वे उन स्थानों पर इतनी गम्भीरता और शीघ्रतासे काम लेते हैं जहाँ दूसरे कवि वर्णनके द्वारा पाठकोंके चित्तको अशान्त कर देते हैं। पार्वतीके समाग्र शरीर-सौन्दर्यका वर्णन एक श्लोकमें करते हुए कालिदास कहते हैं :—

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्या चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥

इससे सुन्दर, सरल, सजीव और संक्षिप्त वर्णन नहीं किया जासकता। इसी प्रकार समूचा रघुवंश काव्य महाकवियोंको शिक्षा प्राप्त करनेके लियेही मानों लिखा गया है। अनेक नायकोंके चरित्रका भिन्न भिन्न प्रकारसे वर्णन करते हुए

महाकाव्यके सभी अङ्गोंकी पूर्णता इस काव्यमें ही देखी जाती है। रघुवंशका एक एक सर्ग एक-एक स्वतन्त्र काव्य है। सभी सत्ययुग और त्रेतायुगके राजा हैं परन्तु यह कविकुल गुरु का ही सामर्थ्य है कि सारे चरित्रोंका वर्णन ऐसा किया है कि मानों कवि उनके साथही उपस्थित था। दिलीपकी गो-सेवा, इन्द्र-रघुका युद्ध, रघुका दिग्विजय, दिलीप और सिंहका सम्वाद, इन्दुमतीका स्वयंवर वर्णन, उसका वैवाहिक वर्णन, अजका युद्ध, अजकी राजनीति और उसका विलाप, दशरथका मृगयावर्णन, रामायणकी कथा और परशुराम सम्वाद, पुष्पक पर लौटते हुए समुद्र और मार्गका वर्णन, इसके आगे अनेक राजाओंकी भिन्न स्थितियों और राजनीतियोंके वर्णन, इन सब भिन्न-भिन्न विषयोंको कविने प्रत्यक्ष-दर्शीके समान वर्णन करते हुए एक सूत्र गूँथनेकी जो कला प्रदर्शित की है वह संस्कृत-साहित्य क्या, विश्वके किसी साहित्यमें दृष्टिगोचर नहीं होसकती। इस काव्यमें उपमा और उसीकी विकृतिरूप अर्थान्तरन्यास, निदर्शना एवं दृष्टान्ता-लङ्कारोंकी शोभा और रमणीयता है। उनकी यदि आलोचनाकी जाय तो रघुवंशसे भी महान् नवीन ग्रन्थ तैयार होसकता है।

जड़ और चेतन, स्थावर और जङ्गम या पशु एवं मानवकी एकता या तादात्म्य करनेमें महाकविने जो काव्य-कौशलका स्वर्गीय परिचय दिया है वह विश्व-साहित्यमें एक अतुलनीय वस्तु है। महाकविकी रचनाओंमें जड़, लता, वृक्ष, नदियाँ, तपोवन, आश्रम, पुष्प-पल्लव सभी सजीवकी भाँति काम करते हुए दृष्टि-गोचर होते हैं। पशु, पक्षी और मनुष्योंके बीच परस्पर अकृत्रिम मैत्रीका सजीव चित्र देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। आश्चर्य तो यह है कि जड़-प्रकृति भी कालिदासकी रचनामें प्रधान अभिनेत्रीका कार्य करती है। यदि आज हम कालिदासकी शकुन्तलासे तपोवनको दूर कर दें, उसके उन लता-वृक्षों और मृग-शावकोंको दूर कर दें जिनके अन्दर शकुन्तलाका जीवन उन्मेषित हुआ था, तो सारा नाटक ही उजाड़-सा प्रतीत हो। जिन्हें शकुन्तलाने अपने हाथों से सींचकर बड़ा किया था, जिन हरिण-शिशुओंके कुशसे कटे हुए मुखको इङ्गुदीतेलसे स्निग्ध करती थी एवं जिनके साथ जन्मसे लेकर स्वाभाविक प्रेम था—वे सब पशु-पक्षी एवं लतागुल्म कालिदासकी रचनामें सजीवकी भाँति शकुन्तलाके स्नेह और विरह का अनुभव करते हुए प्रतीत होते हैं। शकुन्तलाके जीवनसे तपोवनको पृथक् किया ही नहीं जा सकता। शकुन्तलाके सहज-स्नेहसे सिञ्चित होकर तपोवन-स्थली, हर्ष और रमणीयताका एवं उसकी विरह-वह्निसे सन्तप्त वनस्थली शून्यता और परम विषादका अनुभव करती है—यह जड़में चेतनताका विकास और उसका

अभिनय-प्रदर्शन करनेमें आजतक किसी देश और किसी भाषाके कविको सफलताही नहीं मिली। मेघदूत और रघुवंशमें भी ऐसे प्रसङ्ग आये हैं।

कालिदास कविकुलगुरु तो थे ही, साथही वे भारतीय-संस्कृति, आर्य-सभ्यता और हिन्दू-धर्मके प्रबल प्रवर्त्तक और शिक्षक भी थे। जिस समय कालिदासका आविर्भाव हुआ था—वह विलासिता, सौन्दर्योपासनाका समय था। जातिके पतनका बीज वपन होचुका था। उस समय प्रभुसम्मित-शिक्षक वेद और मित्रसम्मित शिक्षक रामायण और महाभारतका प्रभाव शिथिल हो गया था। विलासितामय मृदु जीवनके लिये कान्तासम्मित उपदेश काव्यकी आवश्यकता थी। उस समय कवि तो थे परन्तु वे शिक्षककी योग्यता नहीं रखते थे—इसीसे उनकी चर्चा करते हुए महाकविने साभिमान कहा है:—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चाऽपि काव्यं नव मित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

अर्थात्—यदि कोई बात पुरानी है—इसलिये वह सर्वथा समुचित और उपयुक्त ही है और नवीन है तो अच्छी नहीं—यह समझना बुद्धिमानी नहीं; प्रत्युत मूर्खता है। बुद्धिमान् लोग दोनोंकी तुलना करने पर एकका आश्रय लेते हैं।

इसी प्रकार उन्हें अपनी शिक्षकता पर भी विश्वास था वे लिखते हैं:—

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था
सङ्क्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥

इस लक्षणके अनुसार कालिदासने विशेषतासे युक्त करके ज्ञानको दूसरोंके हृदयमें सङ्क्रान्त करनेकी जो निपुणता प्राप्तकी है, वह अन्य किसी भी कविमें देखी नहीं जाती।

कुमार-सम्भव और शकुन्तलाके आख्यानसे कविकुल-गुरुने प्राचीन-भारतीय आर्य-ललनाके सच्चे आदर्शकी शिक्षा दी है।

विलासिता और सौन्दर्यका उपासक नागरिक राजाके द्वारा मृदुल-मृग-शवकोंके साथ वनज्योत्स्नाके समान पाली-पोसी गयी, भोली-भाली-तपस्वि कन्याको प्रेम जालमें फँसाकर स्वार्थ-साधन कर लेना वास्तवमें आर्य-संस्कारोंके अनुकूल नहीं है। वरन् तत्कालीन विलासी धनिकोंका एक स्वरूप प्रदर्शन था। इस प्रेमकी नींव दुर्बल थी। विना तप और कष्टके ऐसे गम्भीर प्रेमकी नीव

नहीं जम सकती। इसी कारण महाकविने दुर्वासाके शाप द्वारा दोनोंके यौवन-मदको शिथिलकर दिया, वासनामय हल्के रँगवाले प्रेमको सुदृढ़ करके गहरे रँगमें रंगनेके लिये महाकविने नायक और नायिका दोनोंको पश्चात्तापकी अग्निमें पुनः प्रतयन करके शुद्ध किया।

कुमारसम्भवमें भी पार्वतीके सौन्दर्याभिमानको एकबार कविने चूर्ण करनेके बाद उसे सच्चे मार्गपर लगाया है। उसकी तपस्या और जटिलका सम्वाद प्रेमकी असल कसौटी थी। इस आदर्शको महाकविने स्वयं ही कह दिया है—

तथा समक्षं दहता मनोभवं
पिनकिना भग्न-मनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती—
प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥

इयेषसा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः
अवाप्यते वाकथमन्यथा द्वयं तथा विधं प्रेम पतिश्चताद‍ृशः।

महाकविकी दृष्टिमें नारीका बाह्य रूप-सौन्दर्य और सजावट बनावट निन्दनीय है। इसीलिये पार्वतीने और शकुन्तलाने तपः समाधिसे अपने रूपको अवन्ध्य-सफल-बनानेका प्रयत्न किया है। उन्होंने भारतीय-नारी-समाजके आदश को परित्यक्ता सीताके मुखसे कहवाया है—

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
त्वमेव भर्तानच विप्रयोगः॥

यह आर्य-रमणीका अन्तिम आदर्श-उपस्थित किया है।

महाकविके इसी आदर्शको देखकर पाश्चात्य विद्वान् विस्मित और किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं। क्योंकि उनके समाजमें प्रेमका यह पवित्र आदर्श स्वप्नमें भी दुर्लभ है। उनकी दृष्टि और कलाके अनुसार तो शकुन्तला नाटक वहीं समाप्त हो जाता जहाँ की दुष्यन्तके प्रत्याख्यानके बाद शकुन्तला दुःखकी पराकाष्ठाके पार पहुँच जाती है और कवि कहता हैं—

सानिन्दन्ती स्वानिभाग्यानिबाला
बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुंच प्रवृत्ता।
स्त्री-संस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारात्
उत्क्षिप्याङ्के ज्योतिरेनां तिरोभूत्॥

पाश्चात्य और आधुनिक भारतीय-दृष्टि से यह नाटकका अन्तिम दृश्य था। लेकिन कालिदासको भारतीय नारीका आदर्श दिखलाकर प्रेमके उफानका

प्रायश्चित्त कराना था। इसी आदर्शको देखकर कविवर गेटे ने कहा था कि कालिदासकी कल्पना मर्त्य को स्वर्ग बनाती है। यहींसे कालिदास स्वर्ग की ओर चलते हैं। मर्त्यलोकके मालिनी-तीरके कण्व तपोवनमें उत्पन्न हुआ प्रेम मरीचिके स्वर्गीय तपोवनमें विशुद्ध होता है और पुनः दुष्यन्त और शकुन्तला उसी पावन-प्रेमकी गोदमें शाश्वत और सच्ची शान्ति एवं सुखका अनुभव करते हैं।

इस प्रकार राजाओं के धर्म और राजनैतिक आदर्शके सम्बन्धमें, विवाह एवं अन्यान्य हिन्दू-संस्कारों के सम्बन्ध में, पातिव्रत आदिके सम्बन्धमें मधुरतम उपदेश देनेवाले कविकुल गुरु वास्तवमें जगत्के एक महान् कवि ही नहीं आदर्श शिक्षक भी थे।

मेघदूत की कल्पना भी इनकी एक नवीन ढंगकी कल्पना है। इस कल्पनाके द्वारा हम कालिदासके समयका सच्चा चित्र और जन रुचिका वास्तविक चित्रण प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त रघुवंश तो संस्कृतकविता का एकमात्र मूल स्रोत है। उसमें महाकाव्योंके समस्त वर्णनीय विषयोंका आदर्श रूपेण प्रदर्शन किया गया है। यह महाकाव्यों का सूत्र है और अन्यान्य सारे महाकाव्य उसकी व्याख्या रूप हैं—यदि यह कहा जाय तो सर्वथा उपयुक्त होगा। यही कारण है कि कविकुल गुरु कालिदास वास्तवमें कविकुल गुरु ही थे।

महाकवि बाणभट्ट ने कहा है:—

साकूत–मधुर–कोमल–विलासिनी–कण्ठ–कूजित–प्राये।
शिक्षा समयेऽपि मुदे रतलीला कालिदासोक्तिः॥

—हर्षचरित

सिंहल में कालिदास

ले० बौद्धभिक्षु धर्मानन्द जी,
महाबोधि आश्रम, सारनाथ, काशी

कालिदासके चरित्र पर प्रकाश डालने योग्य सामग्री सिंहली साहित्यमें बहुतही कम उपलब्ध है। अतएव उनके विषयमें सिंहलमें जो दन्तकथायें प्रचलित हैं उन्हींके ही आधार पर कुछ विचार करना प्रस्तुत लेखका उद्देश्य हैं।

विद्वानोंने कालिदासका समय भिन्न भिन्न बताया है। परन्तु विवेकपूर्वक देखनेसे उनके बताये हुए विभिन्न समयोंमें अधिक अन्तर दिखाई नहीं देगा। कालिदासकी रचनाओंके विषय तथा शैलियोंमें जो कुछ भेद है, वह अनेक कालिदासोंकी कल्पना करनेके लिये प्रमाण नहीं होने चाहिये। परन्तु अधिकांश गवेषकोंने उसी कल्पनाके आधार पर अनेक कालिदासोंको निर्धारित करनेकी चेष्टाकी है। यह उचित नहीं है क्योंकि एकही विषय पर रचना करनेके लिये अथवा एक ही शैली पर अटल रहनेके लिये कभी कोई लेखक प्रण करके नहीं बैठता है। विषयके परिवर्तनके साथही साथ शैलीमें भी कुछ परिवर्तन होसकता है। विषयका परिवर्तन जितना स्वाभाविक है शैलीका परिवर्तन भी प्रायः उतना ही स्वाभाविक है। विषय और शैली ही नहीं वरन् लेखकके विचारोंमें भी परिवर्तन होनेकी पूर्ण सम्भावना रहती है। अतः विषय शैली, अथवा विचारोंके ही भेदसे लेखकोंमें भेद समझ बैठना न्याय संगत एवं प्रामाणिक नहीं हो सकता है।

अब भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा निर्दिष्ट कालिदासोंमेंसे केवल उन तीन कालिदासों पर ही अपना विचार प्रकट करना चाहता हूँ जो कि राजा विक्रमादित्य, राजा भोज तथा सिंहलके राजा कुमारदासकी राजसभा के रत्न कहे जाते हैं।

यह निश्चय करनेके लिये कि वास्तवमें एकही कालिदास था अथवा अनेक, उपर्युक्त राजाओंके समयका पता लगाना आवश्यक है।

कालिदासके समयके सम्बन्धमें हम प्रो० वीबरके मतसे सहमत होसकते हैं। उनके मतानुसार कालिदास ईसाके पश्चात् पाँचवी और छठी शताब्दीके बीच हुआ था। इतिहासकी ओर दृष्टिपात करने पर विदित होता है कि विक्रमादित्य का समथ भी कालिदासके समयके आसपास ही है। अर्थात् राजा विक्रमादित्य का समय ईसाके पश्चात् ५४४ वर्ष बताया जाता है। और राजा भोजका समय ईसाके ५८३ वर्ष पश्चात्, तथा सिंहलके राजा कुमारदासका समय ईसाके ४१६ वर्ष पश्चात् माना गया है। इससे स्पष्ट होता है कि वे तीनों कालिदासके समकालीन थे। अर्थात् वे चारों, पाँचवी और छठी शताब्दीके बीच हुये थे। वे विद्वानों तथा विद्याके बड़े प्रेमी भी थे। अतः इस आधार पर कि वे विद्वान तथा समकालीन थे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय एकही कालिदास था और वह तीनों राजाओंके दरबारोंमें समय समय पर विचरण करता रहा था। उनमेंसे कालिदास तथा राजा कुमारदासमें मित्रता क्यों और कैसे हुई, इस विषयमें कुछ प्रकाश डालनेका यत्न करना प्रस्तुत लेखका मुख्य उद्देश्य है।

कालिदास सिंहलमें था न कि सिंहलका था। वह भारतीय था, राजा कुमारदास भी अपनी बाल्यावस्थामें भारतमें ही रहे थे। अतः यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि वे दोनों यहीं पर परस्पर मित्र बन गये होंगे।

सिंहलके कालिदास तो राजा कुमार दास स्वयं हैं क्योंकि उनके द्वारा रचित जानकी हरणके ऐसा महत्वपूर्ण दूसरा संस्कृत काव्य वहाँके और किसी कविने नहीं रचा है। सिंहली अथवा पालिमें भी इस विषय पर रचित कोई अन्य काव्य प्राप्य नहीं है।

कालिदास अपने अन्य समकालीनोंकी अपेक्षा राजा कुमारदाससे विशेष सम्बन्ध रखता था। औरोंकी अपेक्षा उन दोनोंकी विद्वत्तामें भी विशेषता थी।

जानकी हरणं कर्त्तुं, रघुवंशे स्थिते सति,
कविः कविः कुमारदासश्च, रावणश्च यदि क्षमः,

इससे यह स्पष्ट होता है कि कवि कुमारदास तथा कवि कालिदास काव्यशास्त्रमें समानरूपसे निपुण थे। रघुवंश नामक काव्य रहते हुये भी राजा कुमारदासने उसी विषय पर दूसरा काव्य रच कर जो अपने सामर्थ्य तथा साहसका परिचय दिया है, वह सचमुच सराहनीय है। काव्यशास्त्रके

विषयमें कालिदास और कुमारदासकी निपुणताही उनकी मित्रताका मुख्य कारण हो सकता है।

कालिदासकी सिंहल यात्राके बारेमें जो थोड़ा-बहुत प्रमाण मिलता है वह कुछ अंशमें सिंहल-साहित्यमें और अधिकाँशमें वहाँ की जन-श्रुतियोंमें पाया जाता है। यह कहा जाता है कि जब राजा कुमारदासने जानकीहरणकी रचना करके उसे भारतमें भेजा तब यहाँके पण्डितोंने अपने पाण्डित्यके अभिमानमें उसका तिरस्कार किया। यहाँ तक कहा जाता है कि जानकी हरणको एक हाथी की पूँछमें बाँधकर अवहेलनाकी दृष्टिसे उसे जगह जगह पर घुमाया गया, जब कि संयोगवश कालिदासकी दृष्टि उस पर पड़ी। कालिदासने उस कृतिका मूल्य समझकर और सम्भवतः अपने पूर्व परिचित मित्रका स्मरण करके सिंहलकी ओर यात्राकी। उसके पहुँचने पर राजा कुमारदासके यहाँ कालिदासका जैसा उचित था वैसा स्वागत किया गया। तब से दोनों कवियोंकी मित्रता अधिक बढ़तीही गई, और दोनोंही अपना अपना चातुर्य एक दूसरे को दिखलानेके लिये परस्पर मिलकर काव्य रचना करने लगे। कभी-कभी राजा कुमारदास श्लोकके चारो चरण न लिखकर केवल दो पद ही लिखकर अपना विचार प्रगट करते, और शेष दो चरणोंको पूर्ण करने का भार कालिदास पर छोड़ देते। कालिदास भी वैसे ही किया करते थे। एक दिन जब कि कालिदास राजाके यहाँ जा रहे थे रास्तेमें ही रात हो गई। तब वह अपनी परिचिता एक स्त्रीके घरमें रात्रि निवासके लिये चले गये। घरमें प्रविष्ट होते ही राजाकी बनाई हुई दो पदकी कविता दीवार पर लिखी देखी जिसके नीचे यह सूचना थी कि उसे सम्पूर्ण करने वालेको राजाकी ओरसे पुरस्कार दिया जायगा। कालिदासने दूसरे दो पद लिखकर उसे पूर्ण किया।

"पद्मात्पद्मनोद्भूतं श्रूयते न च दृश्यते"

यह न सुना जाता है और न देखा जाता है कि एक पद्म से दूसरा पद्म निकलता हो। ये ही दो पद राजाने लिखे थे, जिसके नीचे कालिदासने लिखा कि "बाले तव मुखाम्भोजात्त्वन्नेत्रेन्दीवरद्वयम्" हे बाले तुम्हारे मुखरूपी पद्मसे नेत्ररूपी दो इन्दीवर अर्थात् पद्मपुष्प निकले हुये हैं।

उस घरकी स्त्री स्वामिहीन थी अथवा पातिव्रत्यसे हीन थी। अतएव उसने कालिदास का संहार करके राजासे पुरस्कार लेना चाहा। तदनुसार उसने उसी रात्रिमें कालिदास का संहार कर दिया और राजाके यहाँ जाकर यह कहकर कि उसने राजाकी बनाई हुई कविताको पूर्ण किया है, उनसे पुरस्कारकी

प्रार्थनाकी। राजाको उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ। वे शायद जानते थे कि वह कार्य केवल कालिदास ऐसे व्यक्तिके लिये ही सम्भव है। राजाने उसकी छान-बीन की और पता लगाने पर कालिदासका शव मिल गया, जिसे देख कर राजाको असह्यदुखः हुआ, यहाँ तक कि जब कालिदासके शव को आग लगा दी गई, तो उसमें कूदकर राजाने अपना जीवन भी मित्रके साथ ही दे दिया। तत्पश्चात् राजाकी पाँच रानियाँ भी उस अग्निमें कूद पड़ीं और भस्म हो गईं। शोकातुर प्रजाने उनकी पुण्य स्मृतिमें सात स्मारक बनवाकर उस स्थान पर सात् (पीपलके पेड़) बोधि वृक्ष भी रोपन किया। वह स्थान अब भी दक्षिण सिंहलमें वर्तमान है, और सत् बोधिवन्तके नामसे विख्यात है।

पराक्रम बाहुचरित्र (परेकुम्बसिरित) नामक सिंहली काव्यमें इस दुर्घटनाका संक्षिप्तमें उल्लेख है। पाठकोंकी जानकारीके लिये उस कविताको यहाँ पर उद्धृत किया जाता है।

वेहेर दसटक् पुराकखा दहअटक् महवेव वेदाँ,
व सर एकहा बिसव् अबिसेस् महनुवम् तेम गुथ चेदी,
अजर किविपर पिणिन् जानकिहरण ए महकव बेदाँ,
कुमरदस रद कालिदस नम किविदँ हटसियपिगिपिदाँ,

अर्थात् उस राजा कुमारदासने १८ महाविहार बनवाकर १८ महावापी खोदवाकर एक ही दिन राज्याभिषेक तथा बुद्ध शासनकी प्रतिष्ठा बनाकर और अपने आचार्यके आशीर्वादसे जानकी हरणको रचकर अन्तमें अपने मित्र कालिदासको अपना जीवन दान दे दिया। इसके अतिरिक्त पाली साहित्यमें भी कालिदासका नाम यत्र-तत्र दिखलाई देता है। मौद्गलायन महा व्याकरण में टीकाचार्य सारिपुत्रकी प्रशंसामें कहा है।

यं चन्दे चन्द भूतं निसितं तरमतिं पाणिनिं पाणिनीये,
सब्बस्मिंतं कसत्थे पटुतर मतयोकन्तु भूतंवतन्ते,
मञ्ञन्ते कालिदासं कविजनहृदयानन्दहेतुं कविन्ते,
सायं लोकत्थ सिद्धिं वितरतु रचना तस्स सारी सुतस्स,

वह सारीपुत्र महास्थविर, चन्द्र व्याकरणके विषयमें चन्द्राचार्यके समान है, पाणिनीयके लिये तो स्वयं पाणिनि है, समस्त तर्कशास्त्रमें निपुण है और वह मानव कविजन हृदयको प्रफुल्लित करने वाला कालिदास ही हैं। अतः उनकी रचना दीर्घकाल तक जगतकी सेवा करती रहे।

कालिदास और शिक्षण समस्या

ले० बल्देव उपाध्याय, एम०ए०. साहित्याचार्य
प्रोफेसर, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

महाकवि कालिदासकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनके ग्रन्थोंके अनुशीलन करनेवालों को यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि मानव-जीवनसे सम्बद्ध शायद ही कोई विषय होगा जिसे कविवरने अछूता छोड़ दिया होगा। भारतकी सभ्यता और संस्कृति कालिदासको अपना अभिव्यञ्जक पाकर कृतकृत्य हुई। भारतीय संस्कृतिका जितना मनोरम चित्र इस महाकविने खींचा है उतना बाल्मीकि तथा व्यासको छोड़ कर शायद ही किसी कविने अपनी लेखनीसे अभिव्यक्त किया है। शिक्षणके विषयमें कालिदासके विचार नितान्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हींका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

शिक्षण प्रकार

भारतवर्षमें तथा अन्य देशोंमें भी शैशवकालमें ही बालक तथा बालिकाके शिक्षणका प्रारम्भ किया जाता है। चूड़ाकरणके अनन्तर विद्यारम्भ संस्कार किया जाता है। चूड़ाकरण तीसरे वर्ष तथा विद्यारम्भ पाँचवें वर्षमें किया जाता है। विद्याका प्रारम्भ लिपिके ग्रहणसे ही होता है। जिस प्रकार नदीका आश्रय लेकर समुद्र प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार लिपिकी शिक्षा पाकर वाङ्मय—शब्द समुदाय—में बालक प्रवेश कर सकता है। सबसे प्रथम शिक्षणका विषय होनेसे आज लिपिकी समस्या नितान्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

> स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितैः।
> लिपेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनैव समुद्रमाविशत्॥
>
> —रघुवंश, ३ सर्ग, २८ श्लोक।

इसके अनन्तर उपनयनका समय आता है। उपनयन होने पर ब्रह्मचारी अपने गुरुके पास जाता है और अपने वर्णके अनुसार विद्याओंका अध्ययन करता है। कालिदासने विद्याभ्यासीके लिए ब्रह्मचर्यकी बड़ी आवश्यकता मानी है। रघुने ससमृगके चर्मको धारण कर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए अपने मन्त्रविद् पितासे अस्त्रविद्याको सीखा।

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवी—
मशिक्षतास्त्रं पितु रेव मन्त्रवत्।

—रघु ३।३१

शैशवकालही विद्याभ्यासके लिए उपयुक्त काल है; इसी समय रघुवंशीय नरेशोंने अपने वर्ण तथा मर्यादाके अनुकूल विद्याओंका अनुशीलन किया। (शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम्—रघु १।८) वेद भारतीय धर्मका मूल स्रोत है। षडंगों के साथ वेदका अभ्यास प्रत्येक आर्यके लिये आवश्यक है। शैशवकालके कुछ बीत जाने पर जब ब्रह्मचारीकी बुद्धि परिपक्व होने लगती है, तब षडङ्गवेदकी शिक्षा दी जाती है। वेदानुशीलनके पीछे काव्य इतिहास आदि पढ़ाया जाना चाहिए। इसीलिये वाल्मीकिने कुशलवको शैशवके किञ्चित् बीत जाने पर षडङ्ग-वेदकी शिक्षा दी और पीछे अपनी मनोरम कृति रामायणको पढ़ाया—

साङ्गं च वेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्त शैशवौ
स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ॥

—रघु १५।३३

संस्कारका शिक्षा पर बड़ा प्रभाव होता है। पूर्वजन्मके संस्कार इस जन्ममें फलीभूत होते हैं। कविका कहना है कि बालकोंके मस्तिष्क बेलिखी स्लेट की तरह नहीं हैं, प्रत्युत अपने जन्मके समय ही बालक अनेक प्रवृत्तियों, संस्कारों तथा शक्तियोंको साथ लेकर पैदा होता है और उसके जीवनमें आगे चल कर ये ही प्रवृत्तियाँ वृद्धिको पाकर विकसित होती हैं। उमाके विषयमें कविका कथन है कि जिस प्रकार शरद्कालमें हंसमालायें गङ्गामें आती हैं, रातके समय स्वाभाविक प्रकाश औषधियोंमें आता है, उसी प्रकार उपदेशके समयमें स्थिरतासे विद्या ग्रहण करने वाली उमाके पास पूर्व जन्मकी उपार्जित विद्यायें स्वतः आगईं:—

तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां
महौषधिं नक्तमिवात्मभासः।
स्थिरोपदेशामुपदेशाकाले
प्रयेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥

—कुमार १।३०

शिक्षक

कालिदासने आदर्श शिक्षककी बड़ी सुन्दर परिभाषा लिखी है। कुछ शिक्षक विद्याग्रहण करनेमें निपुण होते हैं और कुछ विद्यार्थियोंको पढ़ानेमें चतुर होते हैं, परन्तु सबसे श्रेष्ठ शिक्षकमें इन दोनों गुणोंका समन्वय होता है। वह विद्याके ग्रहणमें तथा विद्याके संक्रमणमें समभावसे समर्थ होता है—

शिष्टा क्रिया कस्य चिदात्मसंस्था
संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥

—मालविका० १।१६

अध्यापनसे अध्यापककी विद्या और भी प्रस्फुटित होती है। अध्ययनके समयमें खूब पढ़ी हुई भी विद्या अध्यापनके समय विलक्षणरूपसे विकसित होती है। कालिदासका अनुभव इसी सिद्धान्तको पुष्ट कर रहा है। कविवरका कथन है "सुशिक्षितोऽपि सर्वः उपदेशेन निष्णातो भवति"—मालविका; प्रथम अङ्क।

जब शिक्षकको चतुर छात्र प्राप्त होता है, तब वह उसके उपदेशको इतनी जल्दी तथा सुन्दरतासे सीख लेता है कि जान पड़ता है कि विद्यार्थी ही शिक्षकको बदलेमें शिक्षा देता है। मालविकाकी शिक्षाके विषयमें कालिदासका कहना है—

यद्यत् प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै।
तत्तद्विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥

—मालविका० १।५

शिक्षा पात्रभेदसे नाना प्रकारकी होती है। सत्पात्रको शिक्षा देनेसे वह विलक्षण चमत्कार पैदा करती है। साधारण जल शुक्तिमें पड़तेही मोती बन कर चमक तथा दाम दोनोंमें बढ़ जाता है, परन्तु अन्यत्र वह साधारण जल ही रह जाता है। यही कारण है कि शिक्षक अपनी शिक्षाके निमित्त उपयुक्त अधिकारी की खोजमें रहता है। कालिदासका कथन नितान्त स्पष्ट है—

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजंति शिल्पमाधातुः
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥

—मालविका

सफल शिक्षाकी कसौटी है योग्य आलोचकोंकी प्रशंसा पाना। वही उपदेश विशुद्ध तथा उपादेय माना जाता है, जो योग्य व्यक्तियोंके सामने परीक्षाके अवसर पर मलिन नहीं होता—

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः ।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चन मिवाग्निषु ॥

विद्यार्थीका कर्तव्य

विद्यार्थियोंको अपनी शिक्षाको सफल बनानेके लिए अ. क नियमोंका पालन अत्यावश्यक है। ब्रह्ममुहूर्तमें उठना प्रत्येक आर्यका कर्तव्य है, विशेषतः छात्रोंका क्योंकि उस समयमें चित्त प्रसन्न रहता है, चेतनता प्रसन्नताको प्राप्त कर लेती है। कालिदासकी यह उक्ति—

पश्चिमात् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना ।

इस विषयमें नितान्त चमत्कारिणी है। सन्ध्याकालमें सन्ध्या वन्दन प्रत्येक हिन्दूका धर्म है, विशेषतः विद्याभ्यासियोंका। कविवरने शङ्करके मुखसे सन्ध्या-वन्दन का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है—

पार्ष्णिमुक्त वसुधास्तपस्विनः पावनाम्बुविहिताञ्जलिक्रियाः ।
ब्रह्म गूढ़मभिसायमादृताः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी ॥

—कुमार ८।४७

आशव है कि तपस्वी लोग पवित्र जलसे सूर्यको अञ्जलि देते हैं। पैरके अगले भाग पर खड़े रहते हैं तथा सन्ध्याकालमें गायत्रीका उपांशु जप कर रहे हैं ['गूढ़' जप उसे कहते हैं जिसमें जिह्वाभी न हिलती हो अर्थात् मानसिक जप]

विद्यार्थियोंको चाहिए कि वे अपने गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन कभी न करें (आज्ञां गुरूणां ह्यविचारणीया–रघु १४।४६), क्योंकि यदि पूज्य पुरुषोंके प्रति अनादरभाव दिखलाया जायगा, तो वह उस व्यक्तिके कल्याणमें महान् वाधक बनेगा—

प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजा व्यतिक्रमः ।

—रघु १।७९.

इन नियमों के पालन करने पर ब्रह्मचारी को अपने उद्देश्यकी सिद्धि प्राप्त करते देर नहीं लगती।

शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षणका उद्देश्य क्या है? किस फलकी सिद्धिके लिए इतना क्लेश स्वीकार किया जाता है? कालिदासका इन प्रश्नोंका उत्तर नितान्त स्पष्ट है। शिक्षणका सच्चा फल यही नहीं है कि वह सामाजिक जीवनकी तथा जीविका-अर्जनका उपाय मात्र है। शिक्षित होजाने पर व्यक्ति अपने उदरकी पूर्ति अवश्य कर सकता है तथा समाजमें अपना विशेष स्थान प्राप्त कर सकता है। परन्तु शिक्षाकी इतनी

ही आवंश्यकता नहीं है, वह तो जीवनको पवित्र तथा विभूषित करनेके लिए नितान्त समर्थ है। पार्वती जन्मके अवसर पर हिमालयकी प्रशंसा करते समय कालिदासने स्पष्टही कहा है कि हिमालय पार्वतीसे उसी प्रकार पवित्रित तथा विभूषित किये गये जिस प्रकार स्वर्गका मार्ग गंगाजी से तथा विद्वान् पुरुष संस्कारयुक्त वाणीसे।

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गगेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥

—कुमार १ । २८

शास्त्रीय विद्या तब तक व्यर्थ है जब तक वह व्यवहार के रूपमें न लाई जाय। केवल अध्ययन शब्द का जंजालमात्र है, परन्तु व्यवहार से समन्वित होने पर वह अध्ययन वास्तविक बनता है। कविवर की यह उक्ति

विद्यामभ्यसनेनैव प्रसादयितुमर्हति (रघु १ । ८८)

विशेष व्याख्या नहीं चाहती। गीताके 'ज्ञानं विज्ञान सहितं' का भी यही रहस्य है। ज्ञान केवल शाब्दिक तथा शास्त्रीय रहता है और विज्ञान व्यावहारिक तथा कार्यरूपमें परिणत होता है। ज्ञानको विज्ञान के बिना समन्वय पाये उच्च उद्देश्यकी पूर्ति कभी नहीं होसकती।

इस प्रकार महाकवि कालिदासके शिक्षण विषयक विचार नितान्त उच्च, उपादेय तथा उत्साहवर्धक हैं। आशा है कि शिक्षकोंका ध्यान इन रुचिर विचारों की ओर अवश्य आकृष्ट होगा।

हिन्दू ज्यामिति

लेखक—
डा. अवधेशनारायण सिंह, एम.ए., डी.एस.सी.
अध्यक्ष, गणित विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

वैज्ञानिक अध्ययनके क्षेत्रमें प्राचीन पुरुषोंने जो पूर्णता प्राप्त की थी उसके प्रत्यक्ष प्रमाण हिन्दुओं द्वारा परिवर्धित व्याकरणशास्त्र व यूनानियों द्वारा संचालित ज्यामितिविज्ञान है। हिन्दुओंके साथ व्याकरणके सम्बन्धका वर्णन करनेसे मेरा यह अभिप्राय नहीं कि केवल हिन्दुओंने ही व्याकरणका अनुशीलन किया था। प्राचीन कालके सभी देशके मनुष्योंने व्याकरण शास्त्रका अनुशीलन किया, किन्तु जिस परिपाटीसे हिन्दुओंने उसका अनुशीलन किया था और इस विषयमें जो पूर्णता उन्होंने प्राप्तकी थी वैसी अन्य और कोई नहीं प्राप्त कर सका। इसी प्रकार यद्यपि सभी प्राचीन जातियोंको ज्यामिति शास्त्रके आधार-भूत मौलिक सिद्धान्तोंका कुछ न कुछ ज्ञान था फिर भी इस शास्त्रमें जो पूर्णता और सफलता यूनानियोंने प्राप्त की थी वह दूसरे नहीं प्राप्त कर सके। महर्षि पाणिनि की "अष्टाध्यायी" हिन्दुओं की प्रतिभाकी अक्षय्यनिधि है। यह वह विशाल और परिपूर्ण विज्ञान है जिसकी कल्पना मानव मस्तिष्क कर सकता है। ठीक यही बात यूनानियोंकी ज्यामिति-ज्ञानके सम्बन्धमें भी कही जासकती है।

अब यदि मैं प्राचीन यूनानियों, रोमनों या मिश्रवासियोंके व्याकरण शास्त्रका इतिहास, अपूर्ण साधनों और सीमित ज्ञानके आधार पर लिखने बैठूँ तो मुझे यह माननेको वाध्य होना पड़ेगा कि इन प्राचीन राष्ट्रोंने अपने व्याकरणको हिन्दू व्याकरणसे लिया था या कमसे कम उसे हिन्दुओं द्वारा

आविष्कृत पद्धति पर बनाया था। इस प्रकारके विचारोंमें भ्रम रहित रह सकना असम्भव-सा ही है जब तक कि विशेष सतर्कता न बरती जाय। और इतिहास लेखक, चाहे वह कितना ही सतर्क क्यों न हो, फिर भी मनुष्य ही है और अपनेको इस प्रकारके विचारोंसे अलग नहीं रख सकता।

पश्चिमीय विद्वान १९वीं सदीके मध्यके लगभग भारतीय गणित विज्ञान के इतिहासके अध्ययनके प्रति आकर्षित हुये और उन्होंने इस विषय पर पुस्तकों व निबन्धोंकी रचनायें की। परन्तु हिन्दुओंकी गणित विज्ञान सम्बन्धी मूल रचनायें उस समय इस रूपमें प्राप्य नहीं थीं जैसी कि अब हैं। यही कारण है कि उन्होंने लिखा है कि हिन्दुओंने ज्यामिति शास्त्रका ज्ञान यूनानियों से प्राप्त किया था। उनके इस निष्कर्षका आधार वे कुछ पारिभाषिक शब्द हैं जो एक दूसरेके पर्य्यायवाची हैं और मिलते-जुलते हैं। विशेषकर वे संस्कृत के "केन्द्र" शब्द पर जोर देते हैं जो इसी प्रकारके यूनानी शब्द से मिलता है। उन्होंने हिन्दू ज्यामिति शास्त्रका गम्भीर आलोचनात्मक अध्ययन नहीं किया है क्योंकि उनके पास किसी निर्णय पर पहुँचनेके लिये पर्य्याप्त सामग्री नहीं थी। किन्तु फिर भी उन्होंने अपने निष्कर्ष पर जोर दिया। इसलिये जहाँ तक उनके अनुसन्धानका सम्बन्ध है यह कहा जासकता है कि अपने अपूर्ण ज्ञानके आधार पर उन्होंने भारतीय ज्यामिति शास्त्रके इतिहासके प्रति भारी अन्याय ही किया है, और इसका कारण उनकी अन्तर्निहित पक्षपातपूर्ण भावनाही थी।

मेरे प्रस्तुत लेखका अभिप्राय भारतमें ज्यामिति शास्त्रके प्रारम्भके सम्बन्धमें कुछ अपने विचार प्रगट करनेका है, जिनका आधार कुछ आधुनिक अनुसन्धान और विगत वर्षोंमें प्राप्त होनेवाले कुछ अन्य साधन हैं।

ज्यामिति विषय पर सबसे प्रथम हिन्दू कृति "सुलभ सूत्र" हैं, जिनमें आपस्तम्ब व बन्धायनकी कृतियाँ सबसे पुरानी हैं। वे यूनानी ज्यामिति शास्त्र के जन्मसे भी कहीं अधिक पहले की हैं। सुलभ सूत्रोंमें प्राप्त ज्यामिति शास्त्र के विभिन्न प्रकाशों व फलों की प्रतिछाया ही यूनानी ज्यामितिमें पाई जाती है। इनमें सबसे पहले ज्यामितिकारके नामकी परिभाषाको ही लीजिये। संस्कृत में ज्यामितिकारको "सर्व-सूत्र-निरंचक" कहा गया है जिसका भावानुवाद अंग्रेजीमें "Uniform Rope Stretcher" होता है। इस हिन्दू परिभाषाको यूनानियोंने हिन्दुओंसे लेकर यूनानी भाषामें उसका अनुवाद किया। सुलभ सूत्रोंमें प्रायः प्रत्येक अभ्यास व बनावटके अन्तमें "स समादिः" शब्द पाया जाता है। यूनानियोंने प्रत्येक बनावटके अन्तमें Q. E. D. के रूपमें

एक संक्षिप्त शब्दका प्रयोग किया है जिसका बृहतरूप है "quod erat daciendum" "स समादिः" व Q. E. D. दोनोंका अर्थ एकही है और इससे प्रगट है कि इस प्रणालीको यूनानियोंने भारतसे ही प्राप्त किया था। क्या यह कहना न्याय संगत होगा कि यूनानियोंने ज्यामिति विज्ञानके मूल सिद्धान्त को भारतीयोंसे प्राप्त किया और बादको उसमें प्रभावपूर्ण विषद् अनुसन्धान करके उसकी उन्नतिकी और उसका एक पूर्ण वैज्ञानिक शैलीमें विकास किया।

ज्यामितिके सम्बन्धमें हिन्दुओंका दृष्टिकोण यूनानियोंके दृष्टिकोणसे सर्वथा भिन्न था। हिन्दुओंने अपनेको ज्यामितिके क्रियात्मक ज्ञानके क्षेत्र तक ही सीमित रक्खा, विशेषतया मापगणित (Mensuration) की समस्याओंके प्रति, जब कि यूनानियोंने इस विषयके सैद्धान्तिक अंशकी ओर ही अपना सारा ध्यान लगाया। समकोण त्रिभुजके इस गुणका ज्ञान—कि समकोणके सामने वाली भुजा परका वर्ग बराबर होता है शेष दो भुजाओंके वर्गोंके योगके-आपस्तम्ब सुलभ सूत्र के रचयिताको ईसाके आठ सौ वर्ष पूर्व ही ज्ञात था। यूनानियोंके मतानुसार इस साध्यका आविष्कर्ता पाइथोगोरस था जो ईसाके ५०० वर्ष पहले हुआ था। यह नितान्त सम्भव है कि पाइथोगोरसने इस साध्यको भारतसे प्राप्त किया हो और इसकी सिद्धिके लिये अपनी नई उपपत्ति लगाई हो। किसी चक्रके क्षेत्रफलको निकालनेके सम्बन्धमें हिन्दू, यूनानियोंसे कहीं आगे बढ़े हुये थे। क्योंकि हिन्दुओं द्वारा निर्धारित π का राशिफल यूनानियोके फलसे कहीं अधिक पूर्ण या अच्छा था। $\pi = \frac{६२८३२}{२००००} =$ ३.१४१६ या $\pi = \frac{३५५}{११३}$ से बढ़कर कोई अन्य अच्छा फल यूनानी न निकाल सके। किन्तु इनमेंसे प्रथम फल, आर्यभट्ट (प्रथम) को ज्ञात था और दूसरा आर्यभट्ट प्रथम (४९९ ई०) के बहुत पहलेसे ही भारतमें प्रचलित था।

इसलिये यह स्पष्ट है कि जहाँ तक क्रियात्मक ज्यामिति विज्ञानके वास्तविक ज्ञानका सम्बन्ध है, हिन्दू यूनानियोंसे कहीं आगे बढ़े हुये थे और इसलिये यह प्रश्नही नहीं उठता कि इस विषयमें हिन्दुओंने यूनानियोंकी नकलकी होगी। जहाँ तक यूनानियोंकी सैद्धान्तिक ज्यामितिका सम्बन्ध है हिन्दुओंके पास वैसी ज्यामिति कभी थी ही नहीं। इसलिये इस सम्बन्धमें भी उनका यूनानियोंकी नकल करनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

अन्तमें मैं यह बलपूर्वक स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हिन्दू ज्यामिति—जैसी कि वह प्राचीन हिन्दू ग्रन्थोंमें प्राप्य है—यूनानी ज्यामितिसे सर्वथा स्वतंत्र है। वह हिन्दुओंकी अपनी महान् देन है और उस पर स्पष्ट हिन्दुत्वकी छाप विद्यमान है

प्राचीन भारत में शल्य-चिकित्सा
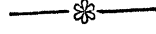
ले० महामहोपाध्याय डाक्टर श्रीउमेशमिश्र,

एम० ए०, डी० लिट्०, प्रयाग

न तो मैं शारीरिक-रोग-चिकित्सक डाक्टर हूँ, न मुझे किसी शल्यतन्त्रविद् के चरणोंमें बैठने ही का कोई सौभाग्य प्राप्त हुआ है, फिर भी केवल भारतीय प्राचीन संस्कृतिकी खोजकी उत्सुकताके निवारणके लिए जो कुछ मैंने इस विषय पर अध्ययन किया उसे आज जनताके समक्ष रखनेका साहस किया है। इस कार्यमें सबसे बड़ी कठिनाई इस बातकी मालूम होरही है कि प्राचीन गुरु परम्पराके नष्ट हो जाने से प्राचीन पारिभाषिक शब्दोंका यथार्थ अभिप्राय लुप्त-सा हो गया है। अतः टीकाकार लोग भी इन शब्दोंके भावोंको स्पष्ट नहीं कर सके। दूसरी कठनाई दिन-दिन यह बढ़ती जारही है कि अनेक प्राचीन ग्रन्थोंका शुद्ध संस्करण नहीं मिलते। वस्तुतः जो ग्रन्थ पठन-पाठनमें सर्वदा प्रचलित रहते हैं वही शुद्ध किए जासकते हैं और जिनका कि पठन-पाठन ही लुप्तप्राय हो चला है। उन ग्रन्थोंका शुद्ध संस्करण भी असम्भव है। ये दोनों प्रकारकी कठिनाईयाँ प्रत्येक शास्त्रमें हमें मिल रही हैं विशेष कर शल्यचिकित्सा-शास्त्रमें जिसे अब भारतीय चिकित्सक प्रयोगमें लाते ही नहीं।

इस शास्त्रके साहित्यमें सबसे प्रसिद्ध चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता— ये ही दो ग्रन्थ हमें प्राप्त हैं। अभी हालमें नेपालके राजगुरु श्रीमान् हेमराजशर्म्मा ने वृद्ध जीवकरचित काश्यपसंहिताको प्रकाशितकर इस शास्त्रके महत्त्वको बढ़ाया है। चरक और सुश्रुत ये दोनों ग्रन्थ ईसाके मृत्युके पूर्वके हैं, यह अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध होचुके हैं। इनमें चरक औषधिके लिए तथा सुश्रुत शल्यचिकित्सा के लिए प्रसिद्ध हैं। सुश्रुतके अध्ययनसे अनेक प्रकारके शल्य-यन्त्रोंका ज्ञान होता

है जिनसे भारतीय शल्यतन्त्रवित् आँखके मोतिआबिन्दु तथा गर्भके शिशुको बहुत ही आसानीसे बाहर निकाल लेते थे। वे अनायास उदरके भीतर तथा शिरके भीतर भी शल्य प्रयोग बड़ी सफलताके साथ करते थे। तात्पर्य यह है कि शरीरके अन्दर कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जिस पर ये लोग शल्यप्रयोग न कर सकते थे। नाक और कानके भीतर भी शल्यप्रयोगकर के रोग दूरकरने में ये लोग बड़े सिद्धहस्त थे। हड्डियोंका जोड़ना तथा विचलित हड्डियोंको अपने स्थान पर बैठाना बहुत ही असानीसे ये करते थे। अन्त्रवृद्धि (आँत उतरने), बवासीर, भगन्दर आदि रोगोंको भी शल्यचिकित्सासे दूर करते थे। चेचक आदिके लिए सुई देनेकी विधि तथा उसका प्रयोग भी इन्हें अच्छी प्रकार ज्ञात था। युद्धक्षेत्रमें हताहतोंके शरीरसे अस्त्रोंको निकालनेमें ये बड़े पटु थे जिसका विस्तृत वर्णन हमें महाभारतमें मिलता है[1]।

शल्यशास्त्रके परिपक्वावस्थाका पता हमें 'धन्वन्तरि' शब्दसे ही मिल जाता है। इसका अर्थ है—धन्वं शल्यशास्त्रं, तस्य अन्तं पारं इयर्ति गच्छतीति। यह आयुर्वेद-शास्त्रके एक प्रधान आचार्यका नाम है। यह 'ऋषि' कहलाते हैं। सुश्रुतके अनुसार धन्वन्तरिने इन्द्रसे इस विद्याकी शिक्षा प्राप्तकी थी। इसकी गुरुपरम्परा यों है—प्रजापतिसे अश्विनीकुमार, उनसे इन्द्र और इन्द्रसे धन्वन्तरि। इन्होंने काशिराज दिवोदासको सिखलाया। दिवोदाससे सुश्रुतको इस विद्याकी शिक्षा मिली थी।

चरक संहिताके सूत्रस्थानके पन्द्रहवें अध्यायसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि बड़े बड़े अस्पताल तथा औषधालय अनेक स्थलोंमें थे जिनमें शल्य चिकित्साके लिये सभी आवश्यक सामग्री रहती थी। चरकने कहा है कि बड़े निपुण कारीगर मकान बनानेमें नियुक्त किए जायँ। भवनमें पूर्णतया प्रकाश और वायुका प्रवेश हो। नमी कहीं भी न आने पावे। भवनके चारों ओर इतना सुन्दर दृश्य हो कि लोगोंको वहाँ टहलनेमें आनन्द मिले। किसी भी उच्च अट्टालिकाके पीछे यह चिकित्साशाला न बने। सूर्यके प्रखर किरण इस पर न पड़ें। धूम्र तथा धूलसे यह दूर रहे। वहाँ पर कोई ऐसी वस्तु न रहे जिससे हमारी बह्येन्द्रियों पर किसी प्रकारका आघात पड़े। इसमें सीढ़ी लगी हों और ऊखल तथा मूसल भी रक्खे हों। स्नानागार, पाकगृह, मलमूत्रादिगृह आदि सभी अपने अपने नियत स्थान पर हों।

चिकित्सालयमें सेवा करने वाले अच्छे, धार्मिक, शुद्ध, सच्चरित्र, चतुर, उदार तथा रोगिओंकी सेवा करनेमें पटु, चतुर सम्वाद वाहक, रोगियोंको उठाने

---

१ देखिये—सर्जिकल इन्स्ट्रुमेन्ट्स आन् दि हिन्दूज—मुखोपाध्याय, खण्ड १. पृ० ३३२

और सुलानेके कर्ममें निपुण हों। औषध बनाने और वितरण करने वाले अपने कर्ममें सिद्धहस्त हों तथा प्रत्येक कार्य करनेके लिए वहाँके सेवक लोग सोत्साह उद्यत हों; इन बातोंको ध्यानमें रखना चाहिए।

रोगियोंके मन बहलानेके लिए चिकित्सालयमें अच्छे अच्छे गायक तथा वाद्य बजानेवाले, अच्छे वक्ता लोग जो अच्छी कविता करते हों, कहानी कहते हों, ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथा जानते हों रक्खे जाते थे। जिन्हें संकेत तथा चेष्टा, भाव, मुखाकृति आदि का ज्ञान होता था ऐसे भी लोग वहाँ रक्खे जाते थे। कुछ देश तथा कालज्ञ भी रहते थे।

इसी प्रकार कुछ चिड़ियाँ भी वहाँ रक्खी जाती थीं जैसे लाव, कपिञ्जल, खरहा, हरिण। कृष्णमृग, कालपुच्छक (काला पूँछवाला हरिण), मृगमातृक (पृथु उदरवाला हरिण), भेड़ आदि। अच्छी, दुधार, शीलवती, अनातुर, जिनके बच्चे जीवित हों ऐसी गायें भी वहाँ रक्खी जाती थीं और उनके खिलाने-पिलाने में बड़ी सावधानी बरती जाती थी।

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित पदार्थ सर्वदा सर्वथा उपयोगके लिए वहाँ रक्खे जाते थेः—जल भरे घड़े, हाथ धोनेके लिए बर्त्तन, नाँद, घड़े, थाली, कुँडे, सकोरे, चमचे, चटाई, ढकना, तेलके पकानेके लिए कड़ाही, मन्थनदण्ड, चमड़ा, वस्त्र, सूत, कपास, ऊन, बिछौना, खटिया, बैठक आदि। बिछौनेके लिए चौड़े गलीचे, चद्दर, तकिया, आदि। ये सब बहुत साफ और सुथरे रक्खे जाते थे।

यद्यपि इस शास्त्रके ज्ञाता और प्रयोग कर्त्ताको लोग उच्च दृष्टिसे समाज में नहीं देखते। बंगालमें 'वैद्य श्रेणी' को तथा मिथिलामें 'शाक द्वीपिओं'को जिनका यह स्वभावसिद्ध व्यवसाय है लोग ब्राह्मण-क्षत्रिय आदिके समान नहीं मानते, किन्तु सुश्रुतमें तो इस शास्त्रके अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ही माने गये हैं प्रत्युत शूद्र तो विरलही इसके अधिकारी कहे गये हैं।

शल्य प्रयोग मुख्यतया दो प्रकारके होते हैं—एक जो कि कुण्ठित शस्त्रों के द्वारा जिन्हें सुश्रुतने 'यन्त्र' कहा है, किए जाते हैं; दूसरा जो कि बड़े तीक्ष्ण शस्त्रोंके द्वारा होते हैं। वस्तुतः शल्यचिकित्सासे हम तीक्ष्ण प्रयोग हीसमझते हैं। यन्त्रप्रयोग चौवीस प्रकारसे तथा शस्त्रप्रयोग केवल आठ प्रकार से किए जाते थे।

यन्त्रके सैकड़ों भेद बतलाए गए हैं जिन्हें पुनः सुश्रुतने प्रथम छः भागोंमें विभक्त किया है—

(१) **स्वस्तिकयन्त्र**। इनके २४ भेद हैं। (२) **संदंशयन्त्र**। यह केवल दो प्रकारके हैं। (३) **तालयन्त्र**। ये भी दो प्रकारके हैं। (४) **नाडीयन्त्र**। ये बीस प्रकारके हैं। (५) **शलाकायन्त्र**। ये अट्ठाइस प्रकारके हैं। तथा (६) **उपयन्त्र**। जिनके पचीस भेद हैं। ये सब मुख्यतया लोहेके बनते थे। लोहा न मिलने पर अन्य धातुओंसे भी बनाए जाते थे। इन सबोंकी मुखाकृति तत्तत्कार्य के साधनानुकूल होती थी जैसे सर्पमुखाकृति, मृगमुखाकृति तथा पक्षिमुखाकृति। इन आठ प्रकारके यन्त्रोंसे निम्नलिखित चौबीस प्रकारके कार्य होते थेः—

(१) **निर्घातन**—यन्त्रको इधर-उधर घुमाकर किसी दुष्ट वस्तुको शरीरसे निकालना।

(२) **पूरण**—वस्ति, नेत्र आदिको तैलादिसे भरना।

(३) **बन्धन**—रस्सी आदिसे बांधना।

(४) **व्यूहन**—ऊपर उठा कर अंगको विभक्त कर कांटे आदिको निकालना।

(५) **वर्त्तन**—खुले हुए मुखको गोलाकार बनाना।

(६) **चालन**—एक हिस्सेको दूसरे तरफ ले जाना या हड्डीको हिलाना।

(७) **विवर्त्तन**—चारों तरफ घुमाना।

(८) **विवरण**—किसी हिस्सेको खोलना या फैलाना।

(९) **पीडन**—पीप निकालनेके लिए घावको अंगुलीसे दबाना।

(१०) **मार्ग विशोधन**—मूत्रनाड़ी आदिको साफ करना।

(११) **विकर्षण**—शरीरसे किसी बाह्य वस्तुको निकालना।

(१२) **आहरण**—बाहर निकालना।

(१३) **आञ्छन**—मुखको जरासा ऊपर उठाना।

(१४) **उन्नमन**—नीचे दबे हुए अंगोंको ऊपर उठाना।

(१५) **विनमन**—टूटी हुई हड्डियोंको नीचेकी तरफ झुकाना।

(१६) **भञ्जन**—शस्त्र प्रयोग करनेके पूर्व मस्तक, कान आदिको रगड़ना।

(१७) **उन्मथन**—शरीरके भीतर घुसे हुए और न मिलने वाले शल्यको शलाकासे निकालना।

(१८) **आचूषण**—तुम्बा आदिके द्वारा विषाक्त शोणित या दुग्धको बाहर निकालना।

(१९) **एषण**—घावमें शलाकाके द्वारा दुष्ट अंशोंका ढूँढ़ना।

(२०) **दारण**—विभक्त करना।

(२१) **ऋजुकरण**—झुके हुएको सीधा करना।

(२२) **प्रक्षालन**—जलादिसे व्रणको साफ करना।

(२३) **प्रधमन**—नलीके द्वारा चूर्णको नाकके भीतर देना।

(२४) **प्रमार्जन**—आँखें मीच कर आगन्तुक द्रव्यको बाहर निकालना।

ये तो हुए यन्त्र के कार्य। शस्त्रके केवल आठ प्रकारके कार्य हैं। जैसे छेदन, भेदन, लेखन, वेधन, एषण, आहरण, विश्रावण (पीपको निकालना) तथा सीवन (घावको सी देना)। चरक संहितामें केवल छः प्रकारके तथा वाग्भट्टमें तेरह प्रकारके कार्य कहे गये हैं।

शल्यचिकित्सा करनेके लिए निम्नलिखित सामग्री की आवश्यकता सुश्रुतने कही है—यन्त्र (कुन्ठितशस्त्र) शस्त्र, क्षार (Potential Cantery), अग्नि (actual cantery) शलाका, शृंग (सींग) जलौका, अलाबू, जाम्बवौष्ठ (काले पत्थरसे बने हुए एक प्रकारकी 'बूज़ी' जिसका मुँह जामुनके फलके समान होता है), रुई, कपड़ेके टुकड़े, तेल, सूत, पत्ते, मधु, घी, दूध, पट्टी बाँधनेका सामान, पंखा, ठंढा और गरम जल, लोहेकी कड़ाही, बिछौना, घड़ा, मिट्टीके बर्तन, सज्जन, सेवाप्रिय, भक्त, मज़बूत, दृढ़ तथा तत्पर दाई और नौकर, वसा, प्यास बुझानेके लिये किसी भुने हुए अन्नका आटा या फटा हुआ दूध, कसैले स्वादका पानी, लेपनके द्रव्य।

इन सब वस्तुओंको ठीकसे रखकर शुभ मुहूर्तमें अग्नि तथा ब्राह्मणकी उपासना करके चिकित्सक रोगीको पूर्वाभिमुख बैठाकर स्वयं पश्चिमाभिमुख होकर शल्यप्रयोग करें। शल्यप्रयोगके पूर्व रोगीको उपवास कराना चाहिये किन्तु किसी किसी अवस्थामें थोड़ा सा हल्का भोजन भी दिया जासकता है।

शल्यचिकित्सक १०७ जो मर्म स्थान हैं उन्हें तथा ७०० नसें, नाडी आदि को बचाकर शस्त्र प्रयोग करें जिसमें शोणितका प्रवाह रुक न जाय। शस्त्रको

अनुलोम के अनुसार प्रयोग करना चाहिए जिसमें वह कुण्ठित न हो जाय। जहाँ तक पीप देखनेमें आवे वहीं तक शस्त्रको अन्दर जाना चाहिए। दो इंच से अधिक तो कदापि भीतर न जाए। शल्यकार्य जहाँ तक हो एक ही बारके प्रयोगमें हो जाना उचित है और उचितसे अधिक समय कदापि न देना चाहिए अतएव चिकित्सकको दृढ़, सिद्धहस्त, प्रौढ़ तथा पसीनेसे रहित होना चाहिए।

शल्यप्रयोग करनेके पश्चात् व्रणको चिकित्सक अपनी अँगुलीसे दबावे और औषधीसे युक्त कपड़ेसे उसे साफ करे। इसके पीछे मधु, घृत, तथा अन्य औषधि से मिला हुआ टुकड़ा व्रणके भीतर रक्खे। उसके ऊपर से एक कपड़ा रखकर फिर उसे कोमल पट्टीसे बाँधे। पुनः व्रणके ऊपर सुगन्धित द्रव्योंसे धूपित करे जिसमें दर्द कम हो जाए और दुष्ट प्रभाव न पड़े।। रोगीकी छातीपर शोधित घी मल दिया जाय तथा ईश्वरसे रोगीके शीघ्र आराम होनेके लिए चिकित्सक प्रार्थना करे।

इसके बाद रोगीको कोमल तथा सुवासित बिछौने पर दूसरे घरमें लेजाकर सुलावे और रोगीके पथ्यके लिए सबको सावधानकर दे। दो दिन तक पट्टी न खोली जाए। तीसरे दिन पूर्ववत् साफकर फिर पट्टी बाँधदी जाय।

इस प्रकार सभी बातोंका विस्तृत वर्णन हमें सुश्रुतमें मिलता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि शल्यचिकित्सा भारतवर्षमें ईसाकी मृत्युसे कितना पूर्वही इतने उच्च शिखर तक पहुँची हुई थी जिसका पता अभी भी पाश्चात्य चिकित्सकों को नहीं है। खेद है कि हम सबोंकी असावधानतासे यह सब अब नष्ट होगया है और हमारी संस्कृति इतनी पिछड़ गई है। पुनः लोगोंका ध्यान इधर आकर्षित करने पर कुछ पुनरुद्धार हो, एक मात्र इसी आशासे इस छोटेसे निबन्ध में हमने इस विद्याकी चर्चा तथा अति संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया है।

पञ्चांग परामर्श

लें० ज्योतिषाचार्य पं० षडानन जी झा,
राज्य ज्योतिषी, राज्य गिद्धौर, (बिहार)

भारतवर्ष धर्म प्राण देश है। यहाँको प्रत्येक बाते विज्ञान-धर्मसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। प्रत्येक आचार-विचारमें धर्म्मभाव ओतप्रोत है। साधारणसे साधारण कार्य्यमें त्रिकालदर्शी महर्षियोंने, कालाकाल, कर्त्तव्या कर्त्तव्यका विचार करनेकी परिपाटी चलादी है, जिससे भारतीय जनसमुदाय किसी भी समय पथभ्रष्ट न हो। इसकी रक्षाके लिये सृष्ट्यादि कालसे वेद, वेदाङ्ग, उपनिषत्, दर्शन शास्त्र आदि द्वारा मार्ग बताये गये हैं।

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणंते कार्य्या कार्य्य व्यवस्थिते।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि"॥

उनमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक और व्यावहारिक बातोंमें ज्योतिष शास्त्रकी उपयोगिता—प्रत्येक पदमें पाई जाती है। आपामर को इसका आश्रय लेना पड़ता है। इस शास्त्रसे समस्त संसार किसी न किसी रूपमें लाभ उठा रहा है। यह शास्त्र समयकी स्थितिको दिखलाता है, शुभाशुभ फलकी सूचना देता है। इसके अधिष्ठाता आकर्षण-विकर्षण शक्तिके द्वारा ब्रह्माण्डको स्थिर कर्त्ता सूर्यादि तैजस विम्ब हैं। प्रत्येक जीवके साथ उन तैजस पदार्थोंका अविच्छिन्न सम्बन्ध अवश्य रहना है। वह सम्बन्ध मानसिक, शारीरिक, आत्मिक क्यों न हो उनमें थोड़े-बहुत रूपमें सूर्य्यादि नव तैजस ब्रह्माण्डधारक बिम्बोंका आंशिक भाव रहना विज्ञान सिद्ध है।

यही कारण है कि जातकके जन्मकालमें विचार किया जाता है कि उसमें किस शक्तिकी अधिकता है, यदि सूर्य्यका विशेष प्रभाव पड़ाहो तो वह जातक—आत्मविकाश, उच्च-आदर्श शील होता है। चन्द्रमा से मानसिक शक्ति प्रबल होती है;

मंगलसे शारीरिक बल, बुधसे वैज्ञानिक विकाश, गुरुसे आध्यात्मिक ज्ञान, शुक्र से रूप सौन्दर्य्य, और शनिसे कार्य्य कुशलता होती है। यदि इनमें जिसका प्रभाव विशेष न पड़ाहो उसकी कमी होती है।

जातकके जन्म कालमें ग्रहोंकी स्थिति ज्ञान एवं यावत् धर्म्म शास्त्रीय पर्व निर्णयादिक विषयकी जानकारीके लिये पञ्चाङ्गका निर्माण हुआ है। तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण—यह पञ्चाङ्गके पांच अंग माने जाते हैं। इन पांचोंका ज्ञान प्रधानतः सूर्य-चन्द्रमाकी गति-विधिसे होता है। आकाशीय ग्रहोंकी स्थिति ज्ञानके भारतवर्षमें मुख्यतः १८ आचार्य माने जाते हैं।

सूर्यः पितामहो व्यासो वशिष्ठोऽत्रिः पराशरः
कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मुनिरङ्गिराः।
लोमशः पौलिश श्चैव च्यवनो यवनो भृगुः।
शौनकोऽष्टादश श्चैते ज्योतिश्शास्त्र प्रवर्त्तकाः॥"

"उल्लिखित महर्षियोंके बनाये हुये सिद्धान्तोंमें से "सूर्य सिद्धान्त" का स्थान सर्व प्रथम है। वराह मिहिराचार्य का कथन है:—

"पौलिश रोमक वासिष्ठ सौर पैतामहाश्च सिद्धान्ताः
पञ्चभ्यो द्वावाद्यौ व्याख्यातौ लाटदेवेन।
पौलिश कृतः स्फुटोऽसौ ह्यासन्न स्तुरोमकः प्रोक्तः
स्पष्टतरः सावित्रः परिशेषौ दूरविभ्रष्टाविति" ॥

अतः सूर्य्य सिद्धान्तानुसार सूक्ष्म गणित कर अदृष्ट फल सिद्धिके लिये भूगर्भाभिप्रायिक रविं चन्द्रमा परसे, भूपृष्ठाभि प्रायिक रविचन्द्रसे दृष्ट फलित ग्रहणादिक साधन करना भारतीय आचार्य्यों का मत है।

आजकल परिश्रमके भयसे एवं ज्योतिर्वेत्ताओंकी सामूहिक सहायताके अभावसे भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंके आधार पर बनाये गये ग्रहलाघव, रामविनोद, करण कण्ठीरव, करण मृगाङ्क, ग्रहकौतुक; सिद्धान्त रहस्य, भास्वती, मकरन्द आदि करण ग्रन्थोंसे पञ्चाङ्ग बनाये जाते हैं, भिन्न आधारके होनेसे तिथ्यादि मानोंमें भेद होना सम्भव है। जिससे धार्म्मिक समाजमें बड़ी असुविधा होती है इसका निराकरण करना नितान्त आवश्यक है।

पञ्चाङ्गोंमें भेद होनेके प्रधानतः कारण निम्नलिखित है।

(१) पञ्चाङ्ग निर्माणमें केवल अनेक सारणीके ही आधारसे सूर्य्यादिग्रहों का साधनकर तिथ्यादि साधन करना।

(२) लोक प्रत्ययार्थ दृग्गणितके अनुसार ग्रहण शृङ्गोन्नति आदि दृक्कर्म्म के अतिरिक्त भी उसी सूर्य्य चन्द्रमा परसे तिथ्यादि मानसाधन भी करना।

(३) अयनांश शास्त्रीय वेधानुसार निश्चय न कर भिन्न अयनांश मान कर गणित करना।

(४) कोई सायन सूर्यादिसे तिथ्यादि साधन करते हैं कोई निरयन सूर्य्यादि तिथ्यादि साधन करते हैं।

इत्याद्यु लिखित कारणोंसे ही पञ्चाङ्गोंमें भेद होता है। इसके निराकरण करनेके लिये विद्वानोंको एकत्र बैठकर परामर्श करना चाहिये। आर्य्य सिद्धान्तनुसार वेधकर ग्रहोंको सूक्ष्म रीतिसे सिद्ध करना चाहिये। सर्व सम्मति से करण ग्रन्थों में सूक्ष्मता लाकर उसका सर्वत्र प्रचार करना चाहिये। दृश्य ग्रहसे ग्रहणादिक दृश्य पर्वका साधन, बीज संस्कार संस्कृत गर्भाभिप्रायिक रवि चन्द्रादिसे तिथ्यादि मान साधनकर श्रौत, स्मार्त्त, कर्म्मानुष्ठान योग्य समीचीन पञ्चाङ्गका ऐक्य मत्यसे निर्माण होना उचित हैं।

दृक्प्रत्ययके लिये जो बहुतसे दृक्कर्म संस्कार नवीन, प्राचीन मतसे किये जाते हैं, उनको मुनियोंने अदृष्ट फल सिद्धिके लिये नहीं किया, ग्रहोंमें जिन संस्कारोंके देनेसे अदृष्ट फलमें विशेषता होती है उन्हीं संस्कारों पर रवि चन्द्रमा बनाकर तिथ्यादि मानका साधन किया है। प्राचीन मुनियोंका जो गणित है उससे भूगर्भ-वासियोंके अभिप्रायसे रवि चन्द्रादि सिद्ध होते हैं। लम्बन संस्कार देनेमें भूपृष्ठ-वासी हम लोगोंके अभिप्रायसे रवि चन्द्रादि सिद्ध होते हैं। इस लम्बन संस्कारको जानते हुये भी अदृष्ट फल सिद्धिके लिये रवि चन्द्रमामें लम्बन संस्कार नहीं किया। आगे चलकर ग्रहणादि दृष्ट फलके लिये उन संस्कारोंको ग्रहोंमें किया है। अतः सिद्ध होता है कि दृष्टादृष्ट फल सिद्धार्थ तत्वदर्शियोंका भूपृष्ठ गर्भाभिप्रायिक रवि चन्द्र साधन करना इष्ट था—वही हम सबोंको मान्य भी है। इसलिये उपर निर्दिष्ट साधनोंके बलसे गणितादिका साधन कर, ऐकामत्य स्थापन करना चहिये।

❀ शुद्धि और हिन्दू-धर्म ❀

क्या यह हिन्दू भावनाके विरुद्ध है

ले० डा० ए० एस० अल्तेकर एम०ए०, डी०लिट०
अध्यक्ष प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग
हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

हिन्दू समाजके रूढ़िवादियोंका यह विश्वास है कि शुद्धि तथा प्रत्यावर्तन दोनों ही हिन्दू संस्कृतिकी सच्ची भावनाओंके विरुद्ध हैं। जो जन्मसे हिन्दू नहीं हैं वे हिन्दू जातिके भीतर नहीं जा सकते। जो एक बार हिन्दू धर्मको छोड़ चुके है, चाहे वह किसी मानसिक विकारके कारण ही क्यों न हो, उनका उसमें पुनः प्रवेश असम्भव है। १७वीं शताब्दीके काशीके पण्डित इसी विचारके थे। वर्नियर से उन्होंने कहा था कि उनका यह कभी मत नहीं रहा है कि हिन्दू धर्म, जो कि संसारके सभी धर्मोंमें श्रेष्ठ है, संसारके मानव-वर्गके लिये अभीप्सित है। परमात्मा ने उसका निर्माण केवल उन लोगोंके लिये किया है, जो जन्मसे ही हिन्दू हैं।

वेद व पुराणकालीन रीति

काशीके विद्वान पण्डितोंके उपरोक्त विचारकी पुष्टि प्राचीन परम्पराओं, इतिहास व लेखोंसे नहीं होती। वैदिक आर्योंके उपदेशोंमें समस्त संसारको आर्य-मय बनानेको बात मिलती है। (कृण्वन्तो विश्वमार्यम्) और उन्होंने अपनी समस्त शक्ति व विश्वासके साथ उसका पालन किया। असंख्य अनार्योंको आर्य बनाया गया तथा उन्हें उनके सांस्कृतिक उन्नतिके आधार पर हिन्दुओंके अन्तर्गत एक निश्चित स्थान प्रदान किया गया। इतना ही नहीं, आर्यों और अनार्योंके बीच होने वाले वैवाहिक सम्बन्धको अनियमित ठहराने वाली धारणाका अनुमोदन, जिसका उल्लेख बादको मिलता है; प्राचीन स्मृति लेखकों द्वारा कहीं नहीं मिलता। भीम और अर्जुन सदृश्य कितनेही पौराणिक महापुरुषोंने हिडिम्बा और उदुपी जैसी अनार्य स्त्रियोंसे विवाह किये थे। यह उल्लेखनीय है कि उनके इस

कार्यके विरोधका आभास भी महर्षि वेदव्यासने कहीं प्रदर्शित नहीं किया है। इस सम्बन्धसे उत्पन्न सन्तानोंको आर्य वर्गमें सम्मिलित करनेसे अस्वीकार नहीं किया गया।

ऐतिहासिक प्रमाण

ईसाके चौथी शताब्दीसे ही कितनीही विदेशी जातियोंने भारत पर आक्रमण किया और यहाँ आ बसीं। उनमें यूनानी, शक, पहलवी, कुशाण व हूण विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सबको हिन्दू बना लिया गया था और हिन्दू जातिमें मिला लिया गया था। यूनानियोंके आगमन व सहवासके समयमें कम से कम पचास हजार यूनानी तो भारतमें अवश्य ही बस गये होंगे। धीरे-धीरे वे सब हिन्दुत्वके विशाल क्षेत्रमें समा गये। उनके एक शासक "मिलिंद महान्"के सम्बन्धमें तो निश्चित रूपसे कहा जाता है कि वह जब मरा, बौद्ध था। प्लूटार्कके लेखोंसे पता चलता है कि मिलिन्द महान्की मृत्युके उपरान्त उसकी राखके लिये भारतके बड़े बड़े नगरोंमें उसी प्रकार होड़ लगी हुई थी जिस प्रकार महात्मा बुद्धकी भस्मके लिये। भारतका अन्तिम यूनानी शासक "हरमयि" अपने सिक्कोंमें "थेरा" (बौद्ध भिक्षु) के रूप में वर्णित किया गया है। पश्चिमी भारतकी बहुतसी विशाल व सुन्दर गुफायें यूनानी बौद्धों द्वारा ही निर्मित हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि केवल बौद्ध धर्म ही ने अपना द्वार विदेशियोंके लिये खोला था। इसको सिद्ध करनेके लिये ऐतिहासिक प्रमाण विद्यमान हैं। ईसवी शताब्दिके दो सौ वर्ष पहिलेकी बात है कि प्रख्यात तक्षशिलाके यूनानी शासक अन्तियाल्किदासने हेलियोदोरस नामी राजदूतको मालव साम्राज्यकी राजधानी विदिशामें भेजा था। इस प्राचीन नगरी के भग्न खण्डरातोंमें एक शिलालेख मिला है जिसमें लिखा है कि यह हेलियोडोरस "परम भागवत" अर्थात् विष्णुका उपासक था और उसने अपने इष्ट देवताके मन्दिरके सामने एक गरुड़ध्वजकी स्थापनाकी थी। इससे यह बात स्पष्ट है कि हिन्दुओंकी भक्ति सम्प्रदाय पर बहुतेरे यूनानी प्रवासी आकर्षित हुये और उन्हींमें घुल मिल गये।

इसी प्रकार यूननियोंके अतिरिक्त ऊपर लिखी अन्य विदेशी जातियोंके हिन्दुओंमें मिल जानेके कितने ही ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। मथुराके शक शासक षोड़शका पुरोहित ब्राह्मण था। प्रसिद्ध कुशान शासक वीमकाद फिसेस ने जिसने उत्तरी भारतके बड़े भाग पर विजय प्राप्तकी थी अपने को अपने सिक्कोंमें "परम माहेश्वर" (शिव का भक्त) वर्णित किया है। इतना ही नहीं उसने अपने सिक्कोंके दूसरी ओर अपने देवता शिवकीमूर्ति बनवाई थी।

यह बात उल्लेखनीय है कि उसके प्रत्येक सिक्कोंमें शिवके अतिरिक्त और किसी देवताकी छाप नहीं मिलती है। काठियावाड़में शक वंश जिसने ईसाके १२० वर्ष पूर्वसे लेकर ३९५ ई० तक शासन किया, अपने धार्मिक विचारोंमें शैव था और संस्कृत भाषा व संस्कृतिका महान् संरक्षक था। सुप्रसिद्धकुशन वंशीय सम्राट कनिष्क, बौद्ध था। सन् ४५० ई०से लेकर ६००ई० तक उत्तरी भारत पर लगातार आक्रमण करनेवाले विदेशी हूण भी धीरे धीरे हिन्दुओं में घुल मिल गये। इन हूणों का अन्तिम सम्राट मिहिरकुल-जैसा कि उसके समय के लेखोंमें लिखा है—स्थाणु (शिव)के अतिरिक्त अन्य किसी देवताके सामने नत मस्तक नहीं होता था। (स्थाणोरन्यत्र येन प्रणति कृपणतां प्रापितं नोनभागम्)।

ईसवीय सम्वत्के प्रथम शताब्दियोंमें जावा, सुमात्रा व बोर्नियो इत्यादि द्वीपोंको हिन्दुओंने अपना उपनिवेश बनाया था तथा वहाँके आदिम निवासियों व प्रवासी बौद्धोंको अपने धर्ममें सम्मिलित किया था। बोर्नियोमें एक यज्ञ स्तम्भ पाया गया है जिसका निर्माण एक हिन्दू धर्म ग्रहण करनेवाले व्यक्ति ने, वैदिकयज्ञ करके, उसकी स्मृतिमें कराया था।

अहिन्दुओंको हिन्दू धर्ममें लानेकी रीति मुस्लिम आक्रमणकारियोंके समयमें भी प्रचलित रही किन्तु इन नये आक्रमणकारियोंको अपनेमें मिला लेनेमें हिन्दुत्व सफल न हो सका। इसके कई कारण थे। सर्व प्रथम कारण तो यह था कि ये मुसलमान अन्य आक्रमणकारियोंकी अपेक्षा अपना एक धर्म मानते थे और उसके प्रति अटूट विश्वास रखते थे। अल्लाह, मुहम्मद और क़ुरान से उन्हें कोई अलग न कर सकता था। वे मुहम्मदके अतिरिक्त किसीको भी ईश्वरका अवतार माननेको तैयार नहीं थे। राम और रहीमको एक समझने के प्रयत्न इसीलिये सफल न हो सके। दूसरे वे गोभक्षक थे और हिन्दू गायके परमपूजक। तीसरे वे मूर्ति खण्डक थे और हिन्दू उस समय तक मूर्तिपूजामें परम विश्वास रखनेवाले हो गये थे। इसलिये हिन्दुत्व और इस्लामका संमिश्रण व एकीकरण न हो सका। हिन्दुओंमें वर्ण व्यवस्था अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी और यदि कोई मुसलमान हिन्दू धर्ममें आना भी चाहता तो उसे हिन्दुओंके सामाजिक ढांचेमें उपयुक्त स्थान देना एक असम्भव बात थी।

प्रत्यावर्तन

मुस्लिम आक्रमणकारियोंको हिन्दू धर्ममें मिला लेनेके कार्यको असम्भव देखकर हिन्दुओंने उसे छोड़ दिया। किन्तु उन समस्त हिन्दुओंको पुनः हिन्दू

धर्ममें सम्मिलित करनेके लिये कई शताब्दियों तक वे सतत् प्रयत्न शील रहे जो दबाव, डर या लालचवश इस्लाम धर्म ग्रहणकर चुके थे। ईसाकी आठवीं सदीमें जबकि सिन्ध प्रान्तको अरबोंने अपने आधीनकर लिया था सबसे पहिले प्रत्यावर्तन का प्रश्न उठा था। उस समयके हिन्दू विचारकोंने इस प्रत्यावर्तनकी समस्या पर काफी ध्यान दिया और देवलके नेतृत्वमें नई परिस्थियोंका सामना करनेके लिये एक नई स्मृतिका निर्माण किया। इस स्मृति ने दृढ़ताके साथ घोषणाकी कि ऐसी स्त्रियाँ भी हिन्दू धर्ममें पुनग्राह्य हैं जो अन्य धर्म ग्रहण करने या उद्दण्ड बलात्कारके कारण गर्भवती होगई हों। अग्नि पुराणभी प्रत्यावर्तनका समर्थन करता है चाहे धर्म विच्छेदसे कितनाही समय क्यों न बीत गयाहो।

क्या प्रत्यावर्तन वास्तविकता थी ?

यह कहा जा सकता है कि इस नई देवल-स्मृति आदि ने भले ही प्रत्यावर्तन को उचित ठहराया हो, किन्तु समाज ने उस व्यवस्थाको स्वीकार नहीं किया था। किन्तु बात ऐसी नहीं है क्योंकि उसके स्पष्ट प्रमाण विद्यमान हैं। सिन्धका एक मुस्लिम इतिहासकार अल-बिलादुरी इस बातको स्वीकार करता है कि आठवीं शताब्दिके अन्तमें जब कि प्रान्तमें मुस्लिम शासन पतनकी ओर अग्रसर हो रहा था, कितने ही वे हिन्दू जो इस्लाम ग्रहण कर चुके थे, पुनः हिन्दू बन गये। पंजाब के राजा जयपालके पौत्रका दृष्टान्त इस बारेमें दिया जासकता है। गजनीके सुल्तान महमूद ने उसे कैद कर लिया था और बादको एक शहरका गवर्नर बना देनेके बड़े लालचमें पड़ कर उसने इस्लाम ग्रहण कर लिया था। इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने पर उसका नाम नवाज शाह रक्खा गया और उसे पंजाबके एक जिलेका गवर्नर बना कर भेजा गया। वहाँ पर पुराने धर्मवालों के संसर्गमें आकर उसकी विचारधाराने पुनः पल्टा खाया और वह पुनः हिन्दू धर्ममें दीक्षित हो गया। तत्कालीन एक मुसलमान इतिहासज्ञ लिखता है, "जब सुल्तानको यह मालूम हुआ कि उसने इस्लामके लबादेको उतार फेंका है और अपने गलेसे इस्लामकी रस्सीको निकाल फेकनेके विषयमें मूर्ति पूजक हिन्दुओंके पण्डितोंके साथ विचार विनिमय कर रहा है तो वह आँधीसे भी द्रुतगतिसे वहाँ गया और नवाजशाहको तुरन्त ही गवर्नर पदसे हटा दिया।" यह एक प्रत्यक्ष प्रमाण है कि देवल और अग्निपुराणका यह विचार कि परधर्ममें प्रवेश करने वाला हिन्दू पुनः हिन्दूधर्ममें आ सकता है, समाज द्वारा १०वीं शताब्दी तक भलीभाँति माना जाता रहा है।

किन्तु कट्टर पन्थियोंमें यह विचार जोर पकड़ता जा रहा था कि परधर्म

स्वीकार कर लेने वाले व्यक्ति पुनः हिन्दू धर्ममें न लिये जायँ। अलबरूनीने जो ११वीं शताब्दीमें भारतमें विद्यमान था, इस सम्बन्धमें पूरी छानबीनकी थी। उसका कथन है कि प्रत्यावर्तनके सम्बन्धमें जहाँ ब्राह्मण समाज उसका विरोधी था, वहाँ अन्य हिन्दू उसके पक्षमें थे। सबसे जटिल समस्या यह थी कि ऐसे लोगों को किस जातिमें रखा जाय। इसी प्रश्नके पीछे धीरे-धीरे जनमत प्रत्यावर्तनकी प्रथाके पक्षसे हटने लगा। ज़ेरिया राजपूत जो हिन्दू धर्ममें आनेके लिये प्रबल इच्छुक थे, पुनः हिन्दू समाजमें न लिये जा सके। टीपू सुल्तान द्वारा जबरदस्ती मुसलमान बनाये गये हिन्दू-पुनः हिन्दू धर्ममें दीक्षित होनेके अपने प्रयत्नोंमें सफल न हो सके और उन्हें एक अलग जातिके रूपमें ही रहना पड़ा।

किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि हिन्दू समाजके प्रत्येक अङ्गोंमें प्रत्यावर्तन प्रणालीके परित्यागकी भावना प्रचलित होगई थी। नरहरि नारलेकर नामक एक मरहठा ब्राह्मण पानीपतकी लड़ाईमें युद्ध बन्दी हुआ और इस्लाम धर्ममें लेलिया गया। बारह वर्ष तक मुसलमान रहनेके बाद वह किसी प्रकार मुक्त होसका। इतनी लम्बी अवधि तक मुसलमान रहते हुये भी सन् १७७२ ई० में प्रतिष्ठानके, जिसे दक्षिणका काशी कहते हैं, कट्टरपन्थी ब्राह्मणोंने उसके पुनरावर्तनके पक्षमें मत दिया। शिवाजीने निम्बालकर वंशके एक सरदारको मुस्लिम धर्म ग्रहण करने पर भी पुनः हिन्दू बना लिया और प्रत्यावर्तनके प्रति अपनी निष्ठा सिद्ध करनेके लिये स्वयं अपनी पुत्रीसे उसका बिवाह कर दिया। इस सम्बन्धमें तन्जोरके राजाओंने अपने बुद्धिमान पूर्वजों की नीतिका अनुसरण किया और ईसाई प्रचारकोंके कार्य्योंको रोकनेके लिये उन्होंने यह राजाज्ञा निकाली कि जिस किसी व्यक्तिने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया है वह यदि एक निश्चित अवधि तक पुनः अपना पुराना धर्म नहीं ग्रहण कर लेता तो वह अपनी सम्पत्ति का अधिकारी न रह सकेगा। इटालियन यात्री मनूचीका कथन है कि इस आज्ञाके फलस्वरूप ईसाई धर्ममें प्रविष्ट हुये अधिकांश हिन्दू पुनः अपने पुराने हिन्दू धर्ममें लौट गये थे।

उपरोक्त अन्वेषणसे यह प्रगट है कि शुद्धि और प्रत्यावर्तन हिन्दुत्व की भावनाओंके विरोधी नहीं हैं, अपितु दोनों प्रणालियाँ वर्तमान काल तक हिन्दू-धर्ममें प्रचलित रहीं। बढ़ती हुई जाति व्यवस्थाकी कट्टरता तथा मध्य कालीन सामाजिक नेताओंकी समानुकूल परिस्थितियों व आवश्यकताओंको समझनेकी असमर्थता ही के कारण इन प्रणालियों का धीरे धीरे ह्रास होता गया। जैसाकि एलबरूनीका कथन है, यह हिन्दू-समाजकी मूर्खताही थी जिसने इन प्रणालियों

के अस्तित्व पर कुठाराघात किया। शरीरके मलिन अङ्गको स्वच्छ किया जाता है, काट कर फेंक नहीं दिया जाता है। इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि जो सच्चे हृदयसे हिन्दू-धर्म ग्रहण करना चाहते हों या उसमें पुनः लौटना चाहते हों उन्हें ऐसा करने दिया जाय। हमारी संस्कृति और हमारा धर्म ऐसे मार्गोंमें कभीभी बाधक नहीं रहा है।

नगर शब्दके धातु सिद्ध अर्थ पर विचार करनेसे यह स्पष्ट प्रकट होता है, कि सभ्यता स्थान विशेषकी वस्तु नहीं है, जैसा कि अंग्रेजी भाषाके सिविलजेशन शब्द पर विचार करने वाले समझते हैं। सभ्यता नगर और ग्राम दोनोंमें रहती है। यद्यपि नागरिक जीवनके अत्यधिक व्यस्त होनेके कारण वह ग्राम्योंसे पीछे को आलोच्य हो गया किन्तु सामाजिक तथा मानसिक जीवनके प्रसार द्वारा मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक उन्नति समान रूपसे गाँवों और नगरोंमें होती रही है। महाकवि कालिदासने नगरसे दूर आश्रममें निवास करने वाले शारद्वतसे व्यस्त नागरिक जीवनकी सुन्दर आलोचना कराई है।

अभ्यक्तमिवस्नातः शुचिरशुचिमिव प्रवुद्ध इव सुप्तम्
वद्धमिव स्वैरगतिजर्नमिहसुखसङ्गि नमवैमि।

शा० अं० ५ श्लो० ११

हमारे भारतमें बड़े बड़े नगरोंकी न्यूनता कभी नहीं रही। हमारे नागरिक जीवनका प्रारम्भ उस समय से हुआ, जब आर्य्योंने अपने आदि देश सप्त सिन्धुसे बढ़कर दस्युओं पर विजय प्राप्त की। फल स्वरूप दोनोंके मिश्रित रक्त से एक नवल जीवनका विकास हुआ। भारतके इतिहासमें ईसासे हजारों बर्षों पूर्वके नागरिक-जीवनके सूत्र प्रत्येक हिन्दूके हृदयमें अक्षय शब्द चित्रके रूपमें अङ्कित हैं। उस समय जैसा भारतीय नागरिक जीवन था प्रायः आजभी उसी रूपमें विद्यमान है। भारत पर अनेक वाह्य आक्रमण हुये, देशी आक्रान्ताओंने इसपर अनेक बार रणका डंका बजाया, किन्तु नागरिक जीवनकी ज्योति जगमगाती

ही रही। इस लेखमें मृच्छकटिक नाटकके आधार पर उस समयके नागरिक जीवनका चित्र प्रस्तुत करूँगा जिससे मालूम होसकेगा कि पुरानी बातें आज भी किसी रूपमें विद्यमान हैं। मृच्छकटिक, जिसका अर्थ छोटी मिट्टीकी गाड़ी होता है महाकवि कालिदासकी रचनाओंसे प्राचीन है। इस नाटकके वाह्य और आभ्यन्तरिक प्रमाणों पर विचार करनेसे प्रकट होता है कि इसका रचना काल इस्वी पूर्व पाँचवीं शतीका उत्तरार्द्ध है। जीवनकी जिन समस्याओंका चित्रण हमें इस नाटकमें मिलता है, वे अवश्य उस समय की प्रतिनिधि हैं। उज्जयिनीसे जिसे आजकल उजैन कहते हैं नाटकका कार्य प्रारम्भ होता है। प्रारम्भमें एक साधारण जनका गृह-जीवन आनन्द मय खींचा गया है। उसकी स्त्री एक भोज की आयोजना करती है। इतनेमें भूखसे व्याकुल उसका पति कलेवाकी खोजमें घर आकर उस समारोहको देखता है। कारण पूछने पर उसकी स्त्री अपने व्रत और तदङ्गभूत ब्राह्मण भोजनको ही आयोजना का कारण बतलाती है। तत्पश्चात् अपने पतिको एक ऐसे ब्राह्मणको निमन्त्रित करनेको कहती है जो उसके यहाँ भोजनकर उसे गौरवान्वित करे। उस समय भी ब्राह्मण जनोंके यहाँ भोजन नहीं करते थे। उसका पति ऐसेही ब्राह्मणकी तलाशमें निकलता है। निकलतेही नाटकके नायक उज्जयिनी के नामशेष धन कुबेर गुणग्राही चारुदत्तके मित्र मैत्रेयसे उसकी भेंट होती है। वह अपने अभिप्रायको कहता है किन्तु मैत्रेय स्वीकार नहीं करता। अन्ततः वह सड़कों पर इधर उधर घूम घूमकर ब्राह्मणकी तलाश करने लगा।

चारुदत्तके घर पहुँचने पर मैत्रेयको वह बलि देनेको चौराहे पर भेजता है। इसका यह अभिप्राय था कि इस प्रकार पूजा-द्वारा जो कष्ट होता है उसका निवारण होजाता है। और जो व्यक्ति चौराहे पर रक्खे इन पूजा संभारोंको नांघ जाता है उस पर दुख और दारिद्र्यका प्रकोप हो जाता है। यह विश्वास आज भी हम लोगोंमें है। घरोंमें प्रायः वृद्धायें बच्चोंको चेतावनी दे दे कर मना करती हैं कि ऐसे फूल-पत्तोंको खेल-कूद या अन्य किसी भी प्रकारसे न लाँघना। ऐसे पत्र-पुष्प प्रायः सन्ध्या-वेला चौराहों पर पड़े पाये जाते हैं। इस प्रथाको आजकल टोना कहते हैं। टोना और मृच्छकटिकमें वर्णित बलिप्रथा एक दूसरेसे कितना सम्बन्ध रखती है।

मैत्रेय इस पर आपत्ति करता है वह कहता है कि सायं सभी लोग राजपथों पर विचरण कर रहे हैं ऐसे समय बलि कैसे दी जासकती है क्योंकि ये लोग गम्भीर प्रकृति वाले पुरुषोंको पकड़ कर तंग करते हैं और उनकी हँसी उड़ाते हैं। अवसर पाते ही मुझे कब छोड़ेंगे। आज भी खासतौरसे हमारे कानपुरमें ऐसे

लोगोंकी कमी नहीं है। प्रसन्नताकी बात है कि वे बिचारे इस ऐतिहासिक परम्पराको सुरक्षित रक्खे हुये हैं।

राजनटी वसन्त सेना इस नाटककी नायिका है। वह चारुदत्तकी खोजमें इसी समय सड़कों पर निकल पड़ती है। एक दुष्ट अमीर उसका पीछा करता है और उसके दो अनुचर भी छेड़खानी करना प्रारम्भ कर देते हैं। अनुचरोंमें एक सभ्य था किन्तु उसका कार्य धनिकोंकी चापलूसी करना और उनके बुरे कामोंमें मंत्रणा देना था। संयोगवश वसन्त सेनाके तीनों अनुचर बिछुड़ जाते हैं। वसन्त-सेनाको भय होता है कि कहीं राजपथ पर उसकी प्रतिष्ठामें धब्बा न लगा दें इस लिये वह जोरसे दौड़ कर चारुदत्तके घरमें घुस जाती है और रात्रिको चन्द्रोदय हो जाने पर चारुदत्तको साथ लेकर घर लौटती है। इसी अंकमें हमारे नागरिक जीवनकी उस परम्परा पर प्रकाश पड़ता है जो आजके हमारे नागरिक जीवनमें आवश्यक है। उस समय यदि किसीको अँधेरी रातमें निकलना पड़ता था तो जलती हुई मशाल लेकर निकलते थे चन्द्रोदय होने पर कठिनाई नहीं होती थी।

दूसरे अङ्कमें उस समयके सामाजिक जीवन पर अधिक प्रकाश पड़ा है। उस समय सब लोग प्रतिदिन पूजा अवश्य करते थे। ब्राह्मण पुजारी भी आजकल की भाँति वेतन पर पूजा करते थे। उस समयके प्रसिद्ध कार्योंमें थपकी लगाना बहुत प्रसिद्ध था। इन्हें संवाहक कहते थे। ये लोग नदियों और तालाबोंके किनारे टोलियाँ बना कर घूमा करते थे। ऐसे लोगोंका दुर्व्यसनी होना स्वाभाविक है। भारतमें सार्वजनिक स्नानागारोंकी प्रथा नहीं थी। सम्भवतः यह प्रथा अरब वाले अपने साथ लाये थे। आजकल भी मुसलिम प्रभाव वाले शहरों बरेली, लखनऊ आदिमें सार्वजनिक स्नानागार हैं जिन्हें "हमाम" कहते हैं। यहाँ कोई भी मनचला थोड़े पैसे देकर स्नान और अनाचार कर सकता है। मृच्छकटिकके समयके सम्वाहक जुवा खेलनेके बहुत शौकीन थे। यह प्रथा संवाहकोंमें बुरी तरह फैली थी। उस समय जुआ खेलनेके लिये स्थान नियत होते थे। इनकी समय समय पर राजकर्मचारियों द्वारा जांच होती थी। जुवाघरका एक प्रधान होता था जिसे समिक कहते थे। यह अनुमान सत्य है कि उस समय योरुपकी भाँति उच्च वर्गके लोगभी जुवा खेलते थे। एक संवाहक जुएमें हार कर भागता है और एक मूर्ति-विहीन मन्दिरमें मूर्तिकी जगह मूर्तिके समान खड़े होकर अपनी चतुरताका परिचय देता है। उसका महाजन उसे ढूँढ़ता वहाँ पहुँच जाता है और उसे पकड़ कर इतना पीटता है कि जिसे पढ़ कर आज किसी कबुलियेका डंडा कमजोर मालूम पड़ता है।

अन्तमें कष्टसे पीड़ित होकर वह सड़क पर जाकर दस स्वर्ण मुद्रामें अपने को बेच कर ऋण-मुक्त हो वसन्त सेनाका दास होता है। इसी अंकमें एक दुर्घटनाका वर्णन है। दुर्घटना भी नागरिक जीवनका अंग है। उस समयकी सड़कें तंग और चक्करदार होती थीं। इस प्रकारकी सड़कें आज भी प्राचीन शहरों कन्नौज, अमृतसर आदिमें हैं। इन पर पैदल ही लोग चलते थे। स्त्रियाँ शिविकारूढ़ होकर चलती थीं। उस समय उत्तर भारतमें घोड़ेकी सवारीका विशेप प्रचार था इससे भी पदातियोंको कोई कठिनाई नहीं होती थी। हाथियों पर चढ़ कर चलनेकी प्रथा सारे भारतमें प्रचलित थी। इसके कारण अक्सर दुर्घटनायें हो जाती थीं। वैसे हाथी बड़ा समझदार होता है किन्तु जब मस्त होकर बिगड़ता है तब धन और जन दोनोंकी बड़ी हानि होती है। मोटरकार यदि किसीसे टक्कर खाजाय तो उसकी गति रुक जाती है। किन्तु मस्त हाथी प्रलयकी आँधीके समान जिसको पाता है उसे उखाड़ता मारता हुआ आगे बढ़ता है। मृच्छकटिकमें वसन्त सेनाका एक नौकर ऐसे ही एक हाथीका वृत्तान्त कहता है। वह सड़कों पर जिससे पाता है, मारता है, और दूकानोंको तोड़ता हुआ आगे बढ़ता है, कि एक साधु उसे मिल जाता है, वह उसे दाँतोंसे दबाकर अधमराकर देना चाहता है कि एक वीर युवा उसकी रक्षा करता है। उसकी वीरताका अभिनन्दन लोग ताली बजाकर करते हैं। ऐसी दुर्घटनाओंको लोग छतों, छज्जों पर बैठकर देखते थे।

संगीतत्सवोंमें जनताके एकत्र होने की प्रथा आजकलकी भाँति उस समय भी प्रचलित थी। इस प्रकारके उत्सव नागरिक जीवनके अङ्ग होते थे। चारुदत्त मैत्रेय आदि सङ्गीत प्रेमी रातको देरसे घर लौटते हैं। उस समय कुत्ते निद्रा-मस्त हो चुके हैं। वे दूकानोंके नीचे चुपचाप सो रहे हैं। आजकल भी लोग सेकन्ड शो देखकर घर लौटते हुए इसका अनुभवकर सकते हैं। जब उन्हें जेठ की रात भी कार्तिक की रात मालूम पड़ती है। चारुदत्त घर पहुँचकर हाथ पैर धोता है। यह पवित्र प्रथा उठी जा रही है। ग्रामोंमें कहीं वृद्ध जन ऐसा करते देखे जाते हैं। इस अङ्कका प्रधान दृश्य उस समय पूर्ण होता है जब चारुदत्त और मैत्रेयके गाढ़ निद्रित होने पर शर्विलक नामक प्रसिद्ध गुण्डा अपनी मनोनीता पत्नीको जो कि वसन्त सेनाकी परिचारिका थी, प्रसन्न करने के लिए उसमें घरमें सेंध लगाता है, और अमानतके तौर पर रक्खे हुए वन्सत सेनाके आभरण चुरा ले जाता है। उस समय चोरोंने स्कन्दकी पूजा द्वारा चोरी को कलाका रूप दे रक्खा था। चोर अन्दर जानेके लिए कमल, चन्द्र, सूर्य्य,

घड़ा इत्यादि की आकृतियाँ दीवालों पर बनाते थे। खोदने और नापनेके लिए इनके पास खन्ता और डोरा रहता था। डोरके अभावमें यज्ञोपवीतसे यह कार्य सम्पन्न करते थे। डोरका रखना इस लिए भी आवश्यक था कि प्रायः खोदते समय बिच्छी आदिके डंक मारनेपर इसकी आवश्यकता पड़ती थी। इसके अतिरिक्त लकड़ीका पुतला और दीपक विदा करनेके लिए पालतू कीड़े भी इनके पास होते थे। लकड़ीका पुतला एक डोरसे बाँधकर प्रवेश करने के पूर्व अन्दरकी जागरूकता या निद्रालुता जाननेके लिए छोड़ते थे। जनता सेंध देखने अवश्य आती थी। चारुदत्तके घरके पक्के होनेके कारण चोरने घड़ेकी आकृति दीवालमें बनाई। इस प्रकार यद्यपि चोरी उस समयके नागरिक जीवनकी प्रतिनिधि नहीं कही जासकती किन्तु केवल मृच्छकटिकमें ही इस अद्भुत चौर्य्य कलाका वर्णन पाया जाता है।

नाटकके चौथे अङ्कमें एक राज्य-विप्लवका भी वर्णन पाया जाता है। राजा दुष्ट तथा अत्याचारी था। एक पुरुष इसलिए काराबद्ध किया जाता है कि वह राजाके विरुद्ध जनतामें प्रचार करता है। अन्तमें विप्लव सफल होता है। इस विप्लवमें चोर शर्विलक भी सहयोग देता है। इस प्रकारके विप्लव और आन्दोलन नगरों तक ही सीमित थे।

वसन्त सेनाके घरके वर्णनसे मालूम होता है कि उस समय भी धनिक पुरुष अपनी आवश्यकताके अतिरिक्त बहुतसी ऐसी वस्तुओंका संग्रह करते थे, जिनके कारण उनके घर छोटे-मोटे कौतुकालय होजाते थे। उस समय मन्दुराओं में भेड़ और बन्दर पाले जाते थे। इसका कारण यह था कि घोड़ोंके घायल होने पर बन्दरोंकी चर्बी लगाई जाती थी। अश्व जातिके कई रोग भेड़ोंके सहवाससे ही दूर हो जाते हैं। शालिहोत्रमें इसके प्रमाण पाये जाते हैं। यह हत्या इसलिए भी उचित थी कि घोड़े युद्धके लिये विशेष उपयोगी थे। शालिहोत्रका श्लोक इस प्रकार है—

कपीनां मेदसा दोपो वह्निदाहसमुद्भवः।
अश्वानांनाशमभ्येति तमः सूर्योदये यथा॥

पंचम अंकमें वर्षाका वर्णन है। यह ऋतु कवियोंको सदासे प्रिय रही है। बरसतेमें वसन्त सेना चारुदत्त से मिलने जाती है। इस प्रथाको साहित्यमें अभिसार कहते हैं। हिन्दी कवियों द्वारा यह परम्परा बहुत दूर तक लेजाई गई है।

उस समय उच्च परिवारोंकी स्त्रियाँ रथों पर चलती थीं। इन रथोंमें बैल जोते

जाते थे। ऊपर लाल ओहार पड़ा होता था। गाड़ीवान बैलोंके पीछे बैठता था। गाड़ीके पीछे स्त्रियाँ बैठती थीं। इस प्रकार वे अपने अभिजात्यकी रक्षा करती थीं। इसी कारण वसन्त सेना दुर्घटनामें पड़ जाती है। विरुद्ध दिशासे आती हुई दूसरी गाड़ीसे गाड़ी फेरी न जाय इस अभिप्रायसे चारुदत्तका सेवक अपनी गाड़ी चारुदत्तकी बगीचीमें रोकता है। इसी अवकाशमें वसन्त सेना शकारके रथमें बैठ जाती है। शकार अपने पुराने वैरके कारण उसका गला घोट मरा हुआ समझ सूखे पत्तोंके ढेरमें छिपा देता है, और चारुदत्तके रथ पर विप्लवी कारासे भगा हुआ राजनीतिक बन्दी छिप कर अपनी प्राण-रक्षा करता है। नगरोंके बाहर धनिकोंके सुन्दर बगीचे होते थे। जिनमें आरामके सब प्रबन्ध किए होते थे।

नवम अङ्कमें फौजदारीके एक मुकदमेका पूर्ण चित्रण है। बाकायदे गवाह गुजरते हैं। गवाहोंके बयानोंके वे अंश जो उनके विरुद्ध जासकें नोट किये जाते हैं। ब्योरेवार प्रमाण द्वारा शकार चारुदत्तको वसन्त सेनाका हत्यारा सिद्ध करा देता है। इस प्रकार वह चारुदत्तसे भी बदला लेता है। न्यायाधीशके निर्णय पर ध्यान देनेसे मालूम होता है कि आजकलकी भाँति उस समय भी जबर्दस्ती अपराध स्वीकार कराया जाता था। अन्तिम अंकमें चारुदत्तको प्राणदण्ड देनेकी तैयारी का वर्णन है। उस समय जिसे प्राणदण्ड दिया जाता था उसके शरीरको लाल चन्दनसे लिप्त कर लाल वस्त्र और लाल कनेरके फूलोंकी माला पहिना देते थे। और भारी भीड़के साथ अपराध घोषित करते हुए दक्षिण श्मशान लेजाते थे और वहाँ शिरच्छेदकर प्राणदण्डकी विधि पूरीकी जाती थी।

इस प्रकार यह नाटक स्पष्टरूपसे बतलाता है कि आजसे दोहजार वर्ष पूर्व हमारे नागरिक जीवनमें कैसे सुन्दर तूफान उठते थे। वह जीवन प्रयत्नोंकी सफलता और असफलतासे पूर्ण था। उस जीवनकी परम्परा आजभी चली आ रही है, और आगेभी चलती रहेगी।

भारतीय विचार-धारा में सहिष्णुता

लें० डॉ० मुहम्मद हाफ़िज़ सैय्यद्
एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट०,
प्रयाग, विश्वविद्यालय

स्वतंत्रता

आध्यात्मिक, राजनैतिक, वैयक्तिक जीवनके किसी भी क्षेत्रमें स्वतंत्र रहन की इच्छा मनुष्यकी न्याय्य है। क्योंकि अपनी प्रबल प्रकृतिमें वह तत्वतः औ स्वभावतः स्वतंत्र है तथा उस स्वतंत्रताको जो उसका जन्मसिद्ध अधिका है, कार्य्य क्षेत्रमें भी प्राप्त करनेके लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। यदि कोई ऐसी वस्तु है जिसे मनुष्य घृणा करता है और जिससे छुटकारा पानेको वह सदैव उत्सुक रहता है तो वह परतंत्रता, परवशता और प्रतिबन्ध है। और ऐसा होन स्वाभाविक ही है।

जब तक मनुष्य, चाहे वह जीवनकी किसीभी स्थितिमें क्यों न हो, अपनी इच्छानुसार कार्य करनेके लिए स्वतंत्र रहता है, वह प्रसन्न रहता है। किन्तु ज्योंही उस पर कोई प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है, वह अपनी प्राकृतिक स्वतंत्रत पर आघात पहुँचते देख व्यग्र और उद्विग्न हो उठता है।

यह सीधा किन्तु सत्य सिद्धान्त सर्वत्र विषयों पर लागू दिखाई देता है चाहे वे बड़ेहों या छोटे, भौतिक हों या दैविक।

जीवनके उच्च स्तरमें जन्म और मृत्युके चक्रसे मुक्त होना व शारीरिव इन्द्रियोंके कष्टदायक प्रतिबन्धोंसे छुटकारा पानाही मनुष्य जीवनका सर्वोच्च ध्येय माना जाता है।

वैयाक्तिक और राष्ट्रीय स्वतंत्रता इन्हीं सिद्धान्तों पर आश्रित है।

विचार और कार्यकी स्वतंत्रताका उद्गमभी इसी स्रोत से है। कुछ प्रति

बन्धों तथा कुछ उत्तरदायित्वके साथ, यही मनुष्यका पवित्र अधिकार होता है। भारतीय विचारधाराकी सत्यभावनाकी दृष्टिमें, पूर्णताका सिद्धान्त या तथा कथित "अन्तिमशब्द" ही हमारे दैनिक जीवनमें मानसिक दासता, असहिष्णुता तथा अनुदारता का मुख्य कारण है। मनुष्य जब तक इस पर विजय नहीं प्राप्त कर लेता तब तक वह विचारोंकी पूर्ण-स्वतंत्रताको जो आत्मिक उन्नतिका मुख्य रहस्य है, प्राप्त नहीं कर सकता। जब तक हम अपने लिये स्वयं सोचना व आत्मनिर्णय करना नहीं सीखते तब तक हम अपनी मानसिक व नैतिक शक्तियोंको विकसित नहीं कर सकते। इसीलिये हमको यह समझना चाहिये कि हम क्यों "पूर्णता" के झंझटसे मुक्त होनेको कहते हैं, तथा सहिष्णुता और पक्षपातरहितता सीखने को कहते हैं।

मानव प्रकृति एक लम्बी अवधि तक एकही प्रकारकी अवश्य रहती है, किन्तु वह काष्ठवत् कठोर या निश्चल नहीं होती है। उसे उत्पत्ति और वृद्धिके नियमोंके अन्तर्गत रहना पड़ता है। मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिकरूप में मानव समाज आज उस स्थान पर नहीं है जहाँ आजसे सहस्रों वर्ष पहले वह था। संसारका निर्माण आजसे केवल कुछ सहस्र वर्ष पहलेही नहीं हुआ था। भारतीय दर्शनके मतानुसार यह करोड़ों वर्षोंसे चला आरहा है और अनगिनत वर्षों तक चलता रहेगा।

अतएव इस परिवर्तनशील, उन्नतिशील तथा विकसनशील जगत्में सभी वस्तुयें समय समय पर अपने युगकी आवश्यकताओंके अनुकूल अपने को व्यवस्थित करती रहती हैं। एक युवा, बच्चेके भोजनपर पोषित नहीं किया जा सकता है।

इसलिये जब तक हम "उस परमपिताके समान पूर्ण" नहीं हो जाते और उस असीममें मिलकर एक नहीं हो जाते, तब तक जीवन और मृत्यु, जन्म और पुनर्जन्मका चक्र हमारे जीवनके साथ सम्बद्ध रहेगा। हमारे मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्श, विकाश, पथप्रदर्शन और स्फूर्तिके लिये हैं। निस्सन्देह ये एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं, यही कारण है कि पूर्णताकी विनाशकारिणी शक्ति से मुक्त हैं।

पूर्णतापर आस्था रखनेका अर्थ है हमारे विकासका अन्त। इस विश्वमें जो उस अपरिमित, असीम, अनन्त, अगाध और अचिन्त्य ब्रह्मकी महत्ता व तेज का केवल एक अंश मात्र है, विना किसी अपवादके प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, और बढ़ते हुये अपने नैतिक तथा आध्यात्मिक विकासके अनुकूल जीवन और सत्यके लिये, स्वास्थ्यप्रद तथा नवीन सिद्धान्तों

की उन्हें आवश्यकता रहती है। हमें आगे बढ़ना है पीछे नहीं हटना है। उस तत्त्वको, उस आत्मको तथा उस परम पुरुषको अभी अधिक उच्च, और सर्वोत्कृष्ट महिमा तथा अत्याकर्षक सौंदर्य्य, अभिव्यक्त करना है। वह इतना विशाल है कि कोई भी धर्म-चाहे वह कितनाही पूर्ण क्यों न हो उसकी निःसीम पूर्णता का वर्णन नहींकर सकता है। सत्य तो यह है कि प्रत्येक धर्म उस सर्व शक्तिमान परमेश्वरके नामके केवल एक अक्षरका ही वर्णन करते हैं। ईश्वरीयज्ञान और चातुर्य्य इतना गम्भीर और अगाध है कि कोई भी धर्मग्रन्थ उसे अपने में बाँध नहीं सकते। न केवल संसारके धर्म ग्रन्थ ही अपितु विज्ञान, दर्शन कला व साहित्य भी उस "सत्स्वरूप"के सौंदर्य्य तथा महत्वके केवल एक छोटेसे अंशको ही प्रति दिन नये से नये सुन्दर भावों तथा रूपोंमें प्रगट करते हैं। बेकन का कथन है कि "ज्ञान अनुसंधानप्रियोंकी गद्दी नहीं है, न जिज्ञासुओंके बैठनेका स्थान है, न उड़ान भरनेवाली प्रतिभाका उच्च स्तम्भ है, न अहंकार प्रदर्शनका सुविधास्थल है; वह लाभ व क्रयविक्रयकी दूकान भी नहीं है वह तो ईश्वरीय प्रकाश और मनुष्यताकी देनका एक विशाल भण्डार है।"

यदि एक बार सांसारिक वस्तुओं, मानवीय विचारों और भावनाओंकी उत्पत्ति और परिवर्तनशीलताकी बात भलीभाँति समझमें आजाय तो हम उनके परिवर्तन व विनाशके प्रति चिन्तित नहीं होंगे। प्रत्येक वस्तुका, जिसका कोई रूप है, कुछ समय बाद परिवर्तन और विनाश होना, अवश्यम्भावी है। विचार स्वातंत्र्यका यह मूल सिद्धान्त है। विचारशील पुरुष कभी इस बात पर जोर नहीं देते कि प्रचलित ज्ञान, विचार व मनुष्य कृत संस्थायें—चाहे कितनीही प्रिय व पूज्य क्यों न हों—अपरिवर्तित ही रहनी चाहिये। भारतीय दर्शनोंमें इन्हें वाह्यरूप कह कर सम्बोधित किया गया है,[1] और इनकी तुलना हमारे वस्त्रोंसे की गई है। मनुष्य कृत संस्थाओं तथा विचारों और व्यवहारमें आने वाले कपड़ोंमें भारी समता है। इसीलिये कार्लायल इसे "वस्त्र विज्ञान" नामसे सम्बोधित किया है।

कार्लायलने इसे परिवर्तनशील जगत्की रूपरेखा न कह कर वस्त्र विज्ञान

---

(१) नामरूपात्मकं हीदं सर्वं—यह सब केवल नाम और रूप ही हैं।
(नृसिंह उपनिषद् २—७)
त्रयं वा इदं—नाम रूपं कर्म—इस संसारमें केवल तीन—नाम, रूप और कर्म ही हैं।
(बृहदारण्यक उपनिषद् १—४—१)

क्यों कहा है ? और इसका विचार-स्वातंत्र्यसे क्या सम्बन्ध है ? इसका उत्तर यह है कि हमारे पहिननेके वस्त्रोंकी कुछ विशेषतायें ये हैं:—(१) जन्मसे बचपन तक, बचपनसे युवावस्था तक, युवावस्थासे वयस्क होने तक तथा समय समय पर हम अपने वस्त्र बदलते रहते हैं। (२) ऋतु और समयके परिवर्तनके साथ साथ हमारे कपड़े भी बदला करते हैं। (३) हमारे कपड़े विभिन्न आकार प्रकारके होते हैं; एक रंग, एक आकार, एक नाप व एक रुचिके नहीं होते। (४) कोई कपड़ा सदैव नहीं पहिना जाता है। (५) प्रत्येक वस्त्र हमारे द्वारा नहीं प्रत्युत कपड़ा सीनेके विशेषज्ञ दर्जी द्वारा बनाया जाता है। (६) हमारे वस्त्र हमसेही निर्मित हैं, ईश्वर द्वारा नहीं। इस प्रकार रूप रंग, समय व परिवर्तनशीलताकी दृष्टिसे जो विशेषतायें हमारे वस्त्रोंमें हैं ठीक वही प्रत्येक कालमें प्रत्येक प्रकारके ज्ञानविचारों में, रीतियों और रूढ़ियोंमें तथा सामाजिक व राजनीतिक विचारोंमें पाई जाती हैं। यदि हमारे विचारों व संस्थाओंमें अनुकूल व्यवस्था करने तथा ग्रहण करने योग्य लचीलेपनकी शक्ति नहीं है तो वे अवश्यही असामयिक और प्रभावहीन होजायँगे।

भारतीय दर्शनका आधार भूत सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तुका जिसका आरम्भ है, उसका अन्त अवश्यम्भावी है [1]। अजन्मा, स्थाणु, शाश्वत और पुरातन केवल एक वही तत्व है जो परिवर्तनके नियमोंसे रहित है। मानवीय संस्थायें, मानव ज्ञान, मानव समाज तथा राजनीतिक व धार्मिक संस्थायें, सबका अपना अपना समय है। इस परिवर्तनशील जगतमें वे आती हैं और चली जाती हैं, दैवी चक्रकी उस विकासोन्मुख धीर गतिको कोई रोक नहीं सकता। हम चाहें या न चाहें, हमें उस दैवी शक्तिकी इच्छाके अनुकूल उत्पन्न होना, खिलना, मुर्झाना और समाप्त होना पड़ता है। जो ईश्वरीय नियमोंके सामन्जस्यसे कार्य करते हैं, वे जीवनमें सफल होते हैं, उन्नति करते हैं, और चमकते हैं जब कि जो उनका विरोध करते हैं वे भग्न होकर नष्ट हो जाते हैं। केवल मानव संस्थायें और मनुष्यकृत नियम व धर्म ही नहीं, अपितु सांसारिक व्यवस्था, ग्रह और बड़ीसे बड़ी सभ्यतायें "स्वल्प जीवन" की वस्तु होकर, नवागन्तुकोंके लिये स्थान छोड़कर

---

(१) रूपं सर्वं असद् विद्धि—जिस वस्तुका कोई भी रूप है उसे विनाशमान समझो।
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः—जिसका जन्म हुआ है उसका विनाश अवश्य होगा।
(गीता अ० २ श्लोक २७)

विलुप्त हो जाती हैं। हमारे विचारोंका व जीवन का बाह्यरूप एक निश्चित उद्देश्यके साधनमात्र हैं, स्वयं उद्देश्य नहीं। जब उनका कार्य पूरा हो जाता है, तब उनकी आवश्यकता नहीं रहती।

उल्लिखित वस्त्र विज्ञानके विभिन्न रूपोंको दृष्टिमें रखते हुये हमारे ज्ञान, विचार, धारणायें, नियम व रूढ़ियाँ, समय की आवश्यकताओंके अनुसार परिवर्तित परिवर्धित होनी चाहियें। जाति, धर्म्म और रंगके भेदको, जो वास्तव में महत्वहीन और अनावश्यक हैं, सहनकर लेना चाहिये और उनपर बल नहीं देना चाहिये। इन विचारोंको दृष्टिमें रखते हुये आचार विचारकी कट्टरता तथा हठधर्मीको हमें कमकर देना चाहिये। विशाल हृदयता तथा पक्षपात शून्य मस्तिष्क ही, हमें वस्तुओंके वास्तविक रूपको दिखानेमें सहायक हो सकता है।

इस अद्भुत विश्वको मानव समाज बहुत कालसे एकमात्र सत्य समझने का आदी हो गया है और इसीलिये वह इस संसारके अनित्य तथा नश्वर भौतिक पदार्थोंको विशेष महत्ता प्रदान करता है। यदि उसमें सच्ची विवेकशक्ति होती और वह प्रत्येक वस्तुकी सत्यता व असत्यता, सारता और निःसारता का उचित वर्गीकरण करना जानता होता, तो वह जीवनकी इन समस्त अस्थिर समस्याओंपर अपना अमूल्य ज्ञान व शक्ति व्यर्थमें व्यय न करता। संसारके प्रायः सभी देशोंका इतिहास हृदयविदारक युद्धों, जातीय कलहों, धर्म युद्धों, औद्योगिक उत्पीड़नों, तथा राजनैतिक शोषण से भरा पड़ा है। राष्ट्रीय लालच अहंकार तथा झूठी शानके पीछे कितने अगणित प्राणों और सम्पत्तिका निर्दयता पूर्वक विनाश किया गया है। यदि विभिन्न राष्ट्रोंके नेताओंका दृष्टिकोण सही होता और परखने की शक्ति विशाल तथा शुद्ध होती तो उनके आपसी झगड़े तय हो जाते, युद्धका अन्त हो जाता और जनता कष्टोंसे उन्मुक्त हो जाती। इस संसारमें मनुष्य साधारणतया अपने अस्तित्वके क्षणजीवी स्वभावको प्रायः भूल जाता है।

ज्यों ज्यों मनुष्य डील डौल और आकृतिमें बढ़ता जाता है, त्यों त्यों उसके कपड़े भी बदलते जाते हैं। तो फिर यदि हमें उन रीति रिवाजों और विचारोंको त्यागना पड़े जो समयके प्रतिकूल और अनावश्यक हैं, तो इसके लिये हम दुःखित क्यों हों और किसी को क्यों दोष दें! जिसको आज हमने जला डाला उसका भी शृंगार कल करना पड़ता है और जिसका आज शृंगार करते हैं उसे कल जलाना भी पड़ता है।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

अपनी पुस्तक "The making of Humanity" में राबर्ट ब्रिफाल्ट लिखते हैं "वर्तमान युग जो परम्परागत धार्मिक अनुशासनोंका प्रत्यक्ष भंग होते देख रहा है, जो निर्दयता व निर्भयताके साथ प्रत्येक कल्पना और रूढ़िका आवरण उलट रहा है, जो अच्छे और बुरेके मूल सिद्धान्त पर अभूत पूर्व स्फूर्तिके साथ टिप्पणीकर रहा है—ऐसे इस नास्तिक, मूर्तिभंजक युगने, प्राचीन युग जिन आदर्शोंके स्वप्न लेता था और प्रचार करता था, उन संयम और दया के मूल विचारोंको न केवल अधिक क्रियात्मक और अधिक तर्कसंगत रूप ही प्रदान किया है अपितु यह भ्रष्टतासे मुक्ति दिलानेवाला युग उन विचारोंको और ऊँचे लिये जा रहा है, नये विचारोंको जन्म दे रहा है, और आचार शास्त्रके अधिक से अधिक सच्चे और ऊँचे विकासको देख रहा है तथा उच्चतर सदाचारका विकास कर रहा है"। इस परिवर्तनका मुख्य कारण मानव प्रगति की वह सूक्ष्म दृष्टि है जिसका वस्त्र विज्ञानसे घनिष्ट सम्बन्ध है। यह उल्लेखनीय है कि केवल मनुष्योंको ही वस्त्रोंकी आवश्यकता पड़ती है क्योंकि केवल उन्हें ही नव निर्माणकी शक्ति प्राप्त है। इससे यह प्रगट है कि मनुष्य का काम बिना कपड़ोंके नहीं चलता चाहे उनकी आवश्यकता अल्पकालीन ही क्यों न हो। उनका निरादर नहीं किया जा सकता है, उन्हें अलग नहीं फेंका जा सकता है। हमें उनका वास्तविक मूल्य आँकना चाहिये। यही व्यवहार हमें मानव संस्थाओं, विचारों, रीतियों और धर्मोंके साथ भी बर्तना चाहिये अवश्यम्भावीके लिये सिर धुनना व्यर्थ है।

विचारों और कार्य्योंकी स्वाधीनता हमारी जन्मसिद्ध अधिकार हैं। मानव आत्मा वस्तुतः प्रकृतिसे ही स्वतंत्र है। किसी भी धर्म, रूढ़ि, कल्पना, जीवन सम्बन्धी विचार, उच्च आदर्श या पक्षपातका उस आत्मा पर दबाव न पड़ने देना चाहिये। यही हिन्दुओंका सिद्धान्त है।

हिन्दू धर्म और बुद्ध धर्मके लेखक सरचार्ल्स ईलियटका हिन्दुत्वके विशाल दृष्टिकोणके सम्बन्धमें कथन है—

"यदि हिन्दुत्व वास्तवमें बुरा होता तो इसके वायुमंडलमें इतने महान् विचारों तथा इतने आदर्श जीवनोंका प्रादुर्भाव न होता। अन्य किसी भी धर्मकी अपेक्षा हिन्दू धर्ममें सिद्धान्त की अपेक्षा सत्यकी खोज ही अधिक है, जो एक के बाद दूसरी पुरानी होती चली गई और नवीन सत्यों को स्थान देती गई।

इसमें नये धर्म ग्रन्थों, नये अवतारों, व नई संस्थाओंकी सम्भावनाको स्वीकार किया गया है। यह ज्ञान और अनुमानोंके विरुद्ध भी नहीं है। वह भौतिकता से अलग रहता है, क्योंकि उसका धर्मसे सामञ्जस्य नहीं है। किन्तु वह सांख्य-दर्शन को भी ग्रहण कर लेता है जो ईश्वर या उपासनाके सम्बन्धमें तटस्थ हैं। यह वास्तवमें प्रगति-शील है और भूतकालमें जब कभी इसके छिन्न-भिन्न होनेका भय उपस्थित हुआ तब ही नवजीवनका आविर्भाव करनेमें यह असफल नहीं रहा। नई जीवन-कलिकायें प्रगट करता रहा है।" हिन्दुओंमें पाखण्ड नामकी कोई वस्तु नहीं है; क्योंकि कोई भी मनुष्य दूसरेका किसी भी विचार क्षेत्रमें चाहे वह धार्मिक हो, राजनैतिक हो, सदाचारका या दार्शनिक हो, स्वामी या निर्णायक नहीं है। विचारों को स्वतंत्र व बन्धनरहित होना चाहिये नहीं तो हम गति शून्य और नष्ट होजायँगे। इस सत्यमें हमें यह परिणाम नहीं निकालना चाहिये कि "हम क्या सोचते हैं इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये।" हमारे विचारोंका हम पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि हम ग़लत सोचते हैं तो हमारी कार्य-प्रणाली भी ग़लत होगी। यदि हमारे विचार तुच्छ होंगे तो हमारे कार्य भी उनके अनुकूल होंगे। इसलिये हमारे विचार सदैव उदार और ऊँचे होने चाहिये। छान्दोग्योपनिषद्में कहा गया है "मनुष्य विचारोंका पुतला है वह जैसा सोचता है वैसा ही बन जाता है।"

प्राचीन कालमें धर्ममें विचारों और भाषणोंकी पूर्ण स्वतंत्रता थी। जहाँ हम ग़लत हैं वहाँ समय हमें ठीक करेगा—जहाँ हमने भूलकी है वहाँ सत्य हमारी त्रुटियोंको भस्म कर देगा। किन्तु यदि एक दूसरेको चुप करता है तो सम्भव है पूर्ण सत्यका एक अक्षर दृष्टिसे ओझल हो जाय और संसारके जीवन-क्षेत्रसे सदाके लिये विलुप्त हो जाय, जबकि उस एक अक्षरको भी उस सम्पूर्ण सत्यमें स्थान मिलना चाहिये था।

"इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि रूढ़ियोंको छिन्न-भिन्न किया जाय क्योंकि वे सत्यके अनुसंधानमें निरन्तर लगी हुई हैं। जब वे जीर्ण हो जायँ उन्हें तोड़ डालना चाहिये। और वे उसी समय जीर्ण होने लगती हैं जब मनुष्यकी अविकसित आत्मा अपने लिये उसे जानना प्रारम्भ करती है और उसे वाह्य प्रमाणोंकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये धार्मिक शिक्षाका, मुख्य ध्येय यही होना चाहिये कि वह प्रमाणोंकी वाह्यताको अन्तर्मुख कर दे, धर्मग्रंथ, मंदिर या उपदेशकसे हट कर मनुष्यकी जागृत अन्तरात्माकी ओर झुके, जो अविनाशी अधिष्ठाता है, एक मात्र सच्चा ईश्वर है, साक्षात् आत्मतत्व है। धर्मको आत्मनिर्णीत होना चाहिये, परनिर्णीत नहीं। धर्मनिर्णयके समस्त साधनों पर अधिकार करके

अपना धर्म हमें स्वयं स्थिर करना चाहिये। क्योंकि एक भी धार्मिक सत्य जो आत्मानुभूत है, दूसरोंके सहस्रों प्रमाणपत्रोंसे बढ़ कर है। क्योंकि वह अपना स्वानुभूत है और उसे हमसे कोई छीन नहीं सकता है। "सर्वमिदं ब्रह्म" का महान् सत्य मानसिक स्वतंत्रताका अधिकारपथ है। मनुष्यको सोचने दो, उसे बोलने दो। कुछ चिन्ता नहीं यदि वह भूलें करता है, ज्ञानकी वृद्धि उसे उचित मार्ग पर ले जायगी। वह आत्मासे बाहर नहीं जा सकता है क्योंकि आत्मा सर्वव्यापी है। वह आत्माका परित्याग भी नहीं कर सकता है क्योंकि आत्मा उसके अन्तस्तलमें है। प्रतिभाको उड़ान भरने दीजिये, ऊपर और ऊपर, जहाँ तक उसके पंख उसे ले जा सकें और अपनी शक्तिके से बाहर भी उड़ने दीजिये। उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम सर्वत्र वह असीम आत्मा—ब्रह्म—व्याप्त है। बुद्धि आत्माके क्षेत्रसे बाहर नहीं जा सकती है, क्योंकि वह तो उसका एक प्रयोगमात्र ही है। इसलिये वह आत्माके अस्तित्वके अनादि तथ्यको धक्का नहीं पहुँचा सकता।"[1]

कुछ लोग ज्ञानके इधर या उधर अग्रसर होनेसे डरते हैं। विवेचनाओं और आलोचनाओंसे बहुतसे धार्मिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति डरते हैं। पर डरनेकी कोई बात नहीं है। भारतीय दर्शनकी दृष्टिसे आलोचना क्या कर सकती है? वह केवल पुस्तकोंका नाश कर सकती है, आत्माका नहीं। उच्च आलोचना जिसके सम्बन्धमें योरोपियन इतनी डींग मारते हैं, केवल पुस्तकोंको ही फाड़ सकती हैं, किन्तु वह आत्माके टुकड़े नहीं कर सकती हैं। आत्माका प्रमाण हमारे भीतर है, बाहर नहीं। पुस्तकोंमें नहीं चाहे वह कितनी ही पवित्र क्यों न हों। पुस्तकोंका जन्म आत्मासे ही हुआ है।[2] वह अन्य पुस्तकोंको भी जन्म दे सकता है। पुस्तकें केवल आत्माका फल ही हैं। वे आत्माकी दैवी शक्तिको मनुष्यमें प्रगट करती हैं। पुस्तकें जो कुछ भी हों वे हमारे विश्वासका आधार नहीं हो सकतीं। आलोचना आत्माको छू तक नहीं सकती, जिसका प्रमाण हमारे अन्दर है।

विज्ञानकी मर्मभेदिनी दृष्टि भले ही सुदूर चमकनेवाले तारे तक पहुँच जाय किन्तु ब्रह्म उसके भी पहुँचके परे है। विज्ञान अणु तककी ही विवेचना कर सकता है। ब्रह्म उस अणुसे भी सूक्ष्म है। फिर विज्ञान कर ही क्या सकता है? इस ब्रह्ममय जगतमें विज्ञान उस ब्रह्मके केवल कुछ नये सौन्दर्योंका ही पता लगा सकता है।

गौतम बुद्धके समयमें भारतमें धार्मिक और दार्शनिक विचारोंके प्रचारके

(१) कमला लेक्चर—डा० एनीबेसेन्ट अ० २ पृ० ३१

(२) जलालुद्दीन रूमी—"तुम ठीक ही सब पुस्तकोंकी माँ हो"

प्रति पूर्ण सहनशीलता वर्तमान थी। इस सहनशीलताको बौद्ध मत अब तक बनाये हुए है। इन२५००वर्षोंमें एक भी व्यक्ति बलपूर्वक बुद्ध धर्ममें दीक्षित नहीं किया गया है और न बौद्ध मतके प्रचारके लिये एक बूँद रक्तही बहाया गया है। इतने परभी बौद्ध मत एक प्रचार धर्मके रूपमें विद्यमान है। यह समस्त मध्य और पूर्वी एशियामें तीव्र गतिसे फैला था और इसने मुगल तथा तातार-जैसी जंगली जातियोंके रहन-सहनको भी परिवर्तित कर दिया था। जब ईसाके २०० वर्ष पूर्व, शक्तिशाली सम्राट् अशोकने बौद्धधर्म ग्रहण किया और उसे राज्य धर्म घोषित किया, तबतो सहिष्णुताके सिद्धान्त का और भी प्रसार हुआ। यहाँ तक कि आज हमारी तथा कथित सभ्यताके लिये तो वह केवल कहानी ही प्रतीत होती है। इसके निश्चित प्रमाण हमें उन शिलालेखों और स्तूपलेखोंमें मिलते हैं जो अशोकने अपने विशाल साम्राज्य में चारों तरफ खुदवाये और बनवाये थे। "महाराजकी इच्छा है कि समस्त जीवित प्राणी निर्भयता, आत्म संयम, शान्ति और आनन्दपूर्वक रहें। महाराजकी सम्मतिमें दया धम द्वारा विजय सब विजयोंमें श्रेष्ठ है। इसमें जो विजय होती है वह प्रसन्नतासे पूर्ण होती है। सब मनुष्य मेरे बच्चे हैं और जिस प्रकार मैं यह चाहता हूँ कि मेरे बच्चे सब प्रकारके वैभव और प्रसन्नताका उपभोग इस और उस दोनो लोकोंमें करें, उसी प्रकार मैं समस्त प्राणीमात्रके लिये चाहता हूँ।" यच० जी० वेल्सका कथन है कि अशोक ही एक ऐसा सम्राट् है, जिसने विजयके उपरान्त युद्धका परित्याग कर दिया था। यद्यपि इस प्रकारके अन्य अनेक लेखों के उदाहरण दिये जा सकते हैं, फिर भी बौद्ध मतकी भावनाओं और उससे उत्पन्न परिणामोंको प्रगट करनेके लिये इतना ही पर्याप्त है। "उनके फलोंसे ही आप उन्हें जान सकते हैं।"

"यह एक विचित्र बात है कि बौद्धमत सुधारोंसे घृणा करता है और स्वतंत्रता का सम्मान करता है। बुद्ध द्वारा संस्थापित भ्रातृसंघमें भी आज्ञा पालनका कोई नियम नहीं है। बौद्धमतका मुख्य ध्येय मनुष्यको शारीरिक, आध्यात्मिक, धार्मिक और सामाजिक बन्धनोंसे मुक्त करना है। बौद्ध कभी भी अपने पड़ोसियोंके राजनैतिक व धार्मिक विचारोंको प्रभावित करनेका प्रयत्न नहीं करते। बुद्धके उपदेशोंपर "एशियाकी ज्योति" (The Light of Asia) नामक सुन्दर पुस्तकके रचयिता एडविन आर्नेल्डका कथन है "बौद्धमत संसारका सर्वश्रेष्ठ मानव स्वातंत्र्य का सबसे विराट् प्रदर्शन है।"

हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म दोनों बुद्धि पर कोई बन्धन नहीं रखते। मनुष्य जब तक चाहे विचारकर सकता है। विचारों पर कोई दण्ड नहीं है और

अन्वेषण करना कोई अनाचार नहीं है। कोई भी वस्तु इतनी पवित्र नहीं है कि उसकी जांच न की जाय। "ब्रह्म अभय है," हम ब्रह्म हैं; फिर हम क्यों डरें? यही कारण है कि बौद्धिक स्वतंत्रता के आनन्द और अधिकारके उपभोगसे न तो कोई वञ्चितही किया गया है, और न कोई निन्दनीय ही समझा गया, क्यों भारतीय विचारधाराके अनुसार वह मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार है।

विक्रम द्विसहस्राब्दि महोत्सव, कानपुर:—

कवि सम्मेलन के अध्यक्ष श्री पं० माखन लाल जी चतुर्वेदी अपना भाषण दे रहे हैं
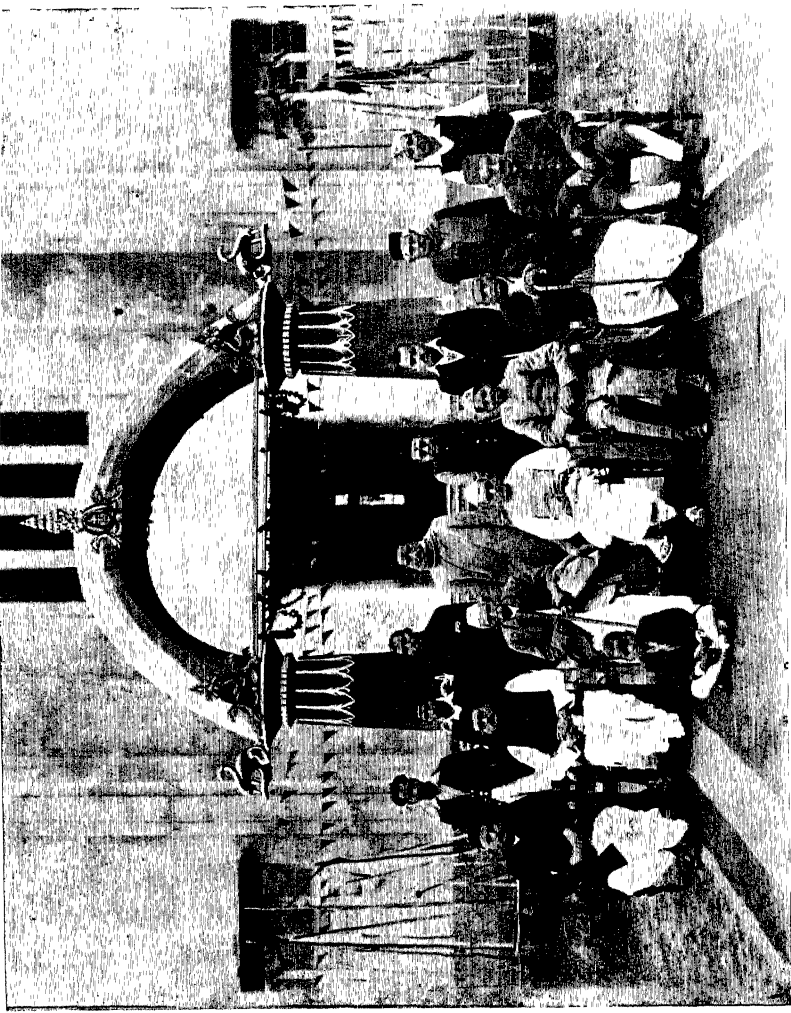
बैठे हुये :—श्री देवसेन जी शुक्ल, श्री भूदेव विद्यालङ्कार, श्री माखनलाल जी चतुर्वेदी, श्री के० एम० मुंशी, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', श्री लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी

खड़े हुये :—सर्वश्री कन्हैयालाल, दयाशंकर त्रिवेदी, दयाशंकर शुक्ल, तुलसीराम गुप्त, बालकृष्ण महेश्वरी, रमानाथ मिश्र, जागेश्वर शुक्ल व वेनीप्रसाद मिश्र

भारतीय विक्रम का महाकोष

ले० श्री डा० वासुदेव शरण अग्रवाल

अध्यक्ष, प्रान्तीय संग्रहालय, लखनऊ

भारतीय संस्कृति का सनातन बट-वृक्ष अपनी अनन्त शाखा-प्रशाखाओं से इस महादेशमें फैला हुआ है। उसकी छत्र-छायामें मानव-इतिहासके कुछ अत्यन्त समुज्ज्वल अध्यायोंका पारायण हुआ है। उसकी कीर्तिमती गाथासे आज तक भारत-राष्ट्रका यश विश्वमें विश्रुत है। इस महाविटपके प्रत्येक पर्ण पर ज्ञान-साधनाकी शत-साहस्री संहिताओंके अमिट अंक लिखे हुए हैं। आज उन अक्षरोंके गूढ अर्थोंको नये कौतूहल और गौरवके भावसे इस दिव्य संस्कृतिके उत्तराधिकारी जानने और समझनेकी सक्रिय चेष्टा कर रहे हैं। भारतीय संस्कृतिके प्रति इस जागरूक ज्ञान-लिप्साके चिह्न हमारे नवीन जीवन में सर्वत्र दृष्टिगोचर होरहे हैं। जिज्ञासाकी यह आकुलता अनन्त हृदयोंमें प्रकट होरही है। सहस्र नेत्रोंसे भारतवासी अपने अतीत गौरवको अपने नवीन राष्ट्रीय अभ्युत्थानमें देखनेके लिए उत्सुक हैं। हमने अपने नवाभ्युदयकी सिद्धि के लिए व्यासके जिस पाणिवाद का आश्रय लिया है, उसकी रूपरेखा हम अपने पूर्वजोंके उद्दीप्त कार्य-कलापोंमें खोज रहे हैं। उनके उदात्त चरित्रोंको सुननेकी अतृप्त अभिलाषाके अंकुर हमारे हृदयोंमें फूट रहे हैं। जनमेजयके समान हमारी भावना भी यही है—

नहि तृप्यामि शृण्वानः पूर्वेषां चरितं महत्।

उन चरितोंको नये रूपमें गाने वाले वैशंपायनोंकी इस समय आवश्यकता है। उन गाथाओंको नये स्वरोंमें हमारे कानोंमें तरंगित करने वाले वीणागायियों

की इस युगमें सर्वत्र खोज है। सारे देशका भावही आज कुलपति शौनकके समान किसी अज्ञात नैमिषारण्यमें उस महानुभाव सूतकी बाट देख रहा है जो भारत-राष्ट्रके रोमहर्षण इतिहासका पारायण कोटानुकोटि भारतीय प्रजाको सुना सके।

पूर्वकालमें कपिशा और बाल्हीक तक जिस राष्ट्रकी सीमाएँ थीं, जिसके वीर अधिवासी वंक्षुके पुनीत जलमें आचमन करते थे, जहाँकी चरणशील प्रजाओं का घोष कुभा और सिंधुके संगम पर नित्य सुनाई पड़ता था, उस देशके क्षात्रधर्म की यशोगाथाको हमारा जागा हुआ राष्ट्र शेषके समान सहस्रकानोंसे सुनना चाहता है। प्राचीन पक्थनों (पठानों) से हमारा क्या संबंध था, गांधार जनपद के अतीत इतिहासमें हमारा क्या भाग था, सुवास्तुके तटकी सर्वप्रथम परिक्रमा किसनेकी, सिंधुके तटपर बसने वाली अफरीदी (आप्रीत) मोहमंद (मधुमंत) सदृश महाप्राण जातियोंका नाम करण किसने किया? इनमेंसे प्रत्येक प्रश्नका उत्तर हमारे भूतकालके एक उज्ज्वल चित्रको हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। गांधार देशमें चुने हुये उड्डियान कंबलोको मध्यदेशकी सेना किस युगमें धारण करती थी। इन्द्रगोपाके समान चटकीले लाल रंगके इन पांडु कंबलोका वर्णन जातकोंमें और पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें कहाँ आया है?—दो सहस्रवर्षोंसे आज तक सुवास्तुकी तलहटीमें पनपती हुई इस कलाका कुशल प्रश्न आज हमारे जीवित राष्ट्रको फिरसे पूछनेकी आवश्यकता है। कौटिल्यने जिन कापिशायन और हारहूरक मधुपानोंका वर्णन किया है, क्या उनके विषयमें कुछ जाननेकी इच्छा नूतन भारतवर्षको नहीं है? केकय देश (झेलम-शाहपुर)के निवासी व्याघ्रोंके वीर्यसे उत्पन्न महाकाय कुत्तों की जिस भयंकर नस्लका पालन करते थे जिसकी कीर्ति किसी समय यूनान देश तक पहुँच गई थी। ननिहालसे विदा होते समय कोशल राजकुमार भरतको जिस जातिके कराल दाढ़ोंवाले बड़े बड़े कुत्ते उपहारमें मिले थे, क्या हम जानते हैं कि वघेरी नस्ल आज भी जीवित है और हमारे सर्वतोमुखी राष्ट्रीय संवर्धनमें भाग पानेके लिये उत्सुक है?

क्या हम अपने उन नाविकोंको याद नहीं करना चाहते जिन्होंने विक्रमकी आरम्भिक शताब्दियोंमें पश्चिमी रत्नाकर और भूमध्यसागरको छान डाला था जिनके बहुमूल्य भाण्डोंको रोमसाम्राज्यमें सम्मान मिलता था, एवं जिन्होंने जावा और सुवर्णभूमि तक अपने सामुद्रिक पोतोंका मार्ग प्रशस्त किया था? जब हम प्राचीन यूनानी लेखकोंके द्वारा सुनते हैं कि हमारे अदम्य पोताध्यक्षोंके ही कुछ बन्धु किसी समय जर्मनीके उत्तरी तट तक जानिकले थे, तब हमें अपनी उस महासागर विजय पर रोमांच हो आता है। क्या हम आज फिरसे अपने उन अतीत नाविकों

की कीर्तिको अमर बनाना नहीं चाहते ? अपने यहाँके देश-यात्री, महान ग्रंथकार, कवि और नाटककार, तपस्वी, ज्ञानसाधक और कलाकारोंसे घनिष्ट परिचय कर लेना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। अजंता पर्वतके पारिजात पुष्पोंके सानिध्यमें प्रशान्त आर्य जीवन बिताने वाले चित्राचार्योंने कौनसा अमर काम किया है, इसका सप्रमाण परिचय हम अपने अर्वाचीन कलाविदोंसे सुनना चाहते हैं। सिंहलकी श्रीगिरि गुफामें, दक्षिणकी सिद्धनिवास गुफामें, मध्यगिरिके गोपगिरि की व्यघ्रगुम्फमें एवं मध्यएशियाके प्राचीन कौशेय मार्गोंमें पनपने वाले समृद्ध विहार और चैत्योंकी भित्तियों पर जो रम्य रूप तूलिकाके द्वारा खुले, उनके नवदर्शनके बिना हमारा सौंदर्य प्रेमी समाज कैसे तृप्त होसकता है ?

जिन भूगोलके विज्ञ पंडितोंने हिमालयके अभ्यंतरमें तिल-तिल प्रदेशकी यात्रा करके केदार और मानसखंडके पर्वत, नदी और कुण्डों का नामकरण किया, उन मान्य पुरोहितों की भौगोलिक प्रतिभा और कलाके समक्ष बुराड और हेडन जैसे हिमालयके प्रेमी भी मस्तक झुकाते हैं। जान्हवी, भागीरथी, मंदाकिनी, अलकनंदा, कर्णगंगा, नंदाकिनी, सरस्वती, वासुकि-गंगा, क्षीरगंगा, धवलगंगा आदि नाम गंगारूपी महान् प्राकृतिक काव्यके सर्गबंध हैं। इनके रम्य छंदोंमें हमारे मनीषी भूगोल-शास्त्रियोंने कितना माधुर्य, कितना सौंदर्य भर दिया है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव हमें तब होगा, जब भारतके जिज्ञासु नवयुवक सदा उत्थान-शील अपने पूर्वजोंके विक्रमका परिचय स्वयं इन प्रदेशोंमें जाकर प्राप्त करेंगे। मंदराचल पर्वत, उसके उत्संगमें बसीविशाला बदरी, नर नारायण शृंग और उनसे संयुक्त गंध-मादन पर्वत, अलकापुरीकी हिमराशि जहाँ से भगवती अलकनंदा ने जन्म लिया है, कुबेरके मित्र मणिभद्र यक्षकी मणिभद्रपुरी, वसुधारा आदि स्थान आजभी भारतीय भूगोलके उत्तराखंड प्रकरणमें जीवित हैं, परंतु उनकी फिरसे प्राण प्रतिष्ठा करनेकी आवश्यकता है। वहाँके निवासी आजभी पांडव नृत्यसे अपना मनोविनोद करते हैं। जब हमारे विश्वविद्यालय भूमिके मापनेमें कुशल अपने विद्वानोंको इन क्षेत्रोंके मानचित्र (सर्वे मैप) बनानेके लिए भेजने लगेंगे, तब हम कह सकेंगे कि जागे हुए भारतवर्षने अपने महाकविके उस संदेश को सुन लिया है, जो उसने कुमार संभवके प्रारंभमें हिमालयकी प्रशस्तिके द्वारा अपनी जनताको देना चाहा था। कहीं ऐसा न हो कि हिमालयके महत्त्वकी चेतना हमारे मनसे विस्मृत होजाय, इसलिए कविने 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः' का अमर आश्वासन हमारे काव्योंमें भर दिया है।

भारतवर्षकी अतीत शताब्दियोंके **विक्रमका महाकोष** (एन्साक्लोपीडिया

विक्रमा) शीघ्रसे शीघ्र बनना चाहिए। जिस प्रकार विशाला बदरीके पवित्र आश्रममें सदोत्थायी द्वैपायन कृष्ण व्यासने तीन वर्षोंके निरंतर परिश्रमसे प्रत्न भारतवर्षके देवतुल्य विक्रमकी संहिता बनाई थी, जिसमें तत्कालीन यगोंकी ज्ञान, साहित्य और क्षात्र-धर्मकी साधनाका सर्वोत्तम प्रतिबिंब अंकित है, उसी प्रकार भारतीय ज्ञान-संस्कृति, भारतीय महाप्रजाओंके जीवन, और भारतवर्षीय धरित्री के पार्थिवरूप की तीन धाराओंमें जो कुछ भी श्री संपन्न, और ऊर्ज्जसंपन्न है, और जो निर्माण कार्य अब तक हुआ है, उसका प्रमाणिक अध्ययन सहानुभूति से भरे हुए विद्वानोंको करना चाहिए। और वह सब एक केन्द्रीय योजनाके अनुसार 'भारतीय विक्रम महाकोष' के रूपमें प्रकाशित होना चाहिए। इस प्रकार का एक ग्रंथराज हमारे नवीन जागरणके लिए अत्यंत आवश्यक है। संस्कृतिके नवाभ्युत्थानका दर्शन चाहने वाली जनताके आनंदके लिए भी इस प्रकारके कोषकी एक योजना बनकर पूरी होनी चाहिए। तभी हम अनेक रोमांचकारी घटनाओंके साथ एक स्थानमें परिचय प्राप्त कर सकेंगे। तातारी सम्राट् कुबलैकान का अनुरोध मानकर किस प्रकार तिब्बतके राजकुमार मतिध्वज पंडितने ब्राह्मी लिपिके आधारसे चीनी भाषाके लिये लिपि तैयार करके दी थी। जिसकी कुछ मुद्रायें और लेख अब भी सुरक्षित हैं, विक्रमकी दसवीं शतीमें विक्रम शिला महाविहारके अद्वितीय महापंडित दीपंकर श्रीज्ञान (९२५–९९७ वि०) ने जो सर्पातिशायी होनेके कारण "अतिशा" विरुदसे विख्यात हुये, हमारे साहित्य और संस्कृतकी क्या सेवाकी, उनके पूर्व और अपर कालीन अन्य कौनसे भारतवासी विद्वान हिमालयके इन कठिन प्रदेशोंमें पहुँचे थे, इन विक्रम प्रधान कार्योंका परिचय अनंत है। बिना एक महाकोषके जनताके लिये वह सुलभ नहीं बन सकता। वैदिक साहित्यमें, पालि साहित्यमें, अर्धमागधी साहित्यमें संस्कृत, बौद्ध और जैन साहित्यमें, अपभ्रंश साहित्यमें, प्रान्तीय भाषाओंके साहित्यमें, दक्षिणापथके संघोंमें पोषित साहित्यमें, यूनानी, ईरानी, पहलवी, चीनी, तिब्बती, फारसी, अँग्रेजी, पुर्चगाली, स्पेनिश, डच, फ्रांसीसी भाषाओंके साहित्यमें तत्तत्कालीन भारतीय इतिहास और संस्कृतिकी मूल्यवान सामग्री भरी हुई है। उसका दोहन, मंथन, संकलन प्रकाशन-ये सब कार्य भारतीय विद्वानोंको करने होंगे, तभी वे अपना स्वरूप पहिचान सकेंगे। चाहे इस कार्य्यको हमारा राष्ट्र आज संपन्न करे या ठहर कर, सदाके लिये इससे पराङ् मुख रह कर हम कदापि कुशल नहीं रह सकते।

राजर्षिविक्रमके द्वारा प्रख्यात सम्वत्सरकी द्विसहस्राब्दीका यही संदेश

है। हम विक्रमकी महिमासे आकृष्ट होकर उनका जयोपाहरण सुननेके लिये एकत्र हुये हैं। इसका अर्थ यही है कि हम इस वर्षके द्वारा अपने राष्ट्रीय विक्रमकी महिमा को जानने और मनन करनेके एक महासत्रका प्रारम्भ कर रहे हैं। अवश्य ही इस सत्रके मंगलगानमें हम महाकवि कालिदासके स्वरमें स्वर मिलाकर अपने राष्ट्रकी आत्मासे कह सकते हैं:—

दिष्ट्या त्रैलोक्योपकार पर्याप्तेन विक्रम महिम्ना वर्धते भवान्।'

हेराष्ट्र तुम्हारा वह विक्रम वृद्धिशीलहो जिसके द्वारा तुमने त्रिलोकीके उपकार साधनमें परायण रहनेका व्रतधारण किया है। अपने नये उठानमें पहिलेसे भी अधिक सजग होकर तुम्हें उस महाव्रतका पालन करना है।

तथा—त्वदीयं जयोदाहरणं श्रुत्वात्वामिहस्थमुपागताः।

अर्थात— हे विक्रम की मूर्ति, तुम्हारे जयोदाहरण को सुनकर तुम्हारा अभिवन्दन करनेके लिये हम आज यहाँ एकत्र हुये हैं। देशकी संस्कृतिका विजय-गान जब हमारे कवियोंके कण्ठसे निर्गत होगा, तब उसके अर्थोंसे हम आनंदित होंगे। जिस भूमिका कोष सुवर्णकी खानोंसे भरापुरा है उस हिरण्यवृक्षा वसुन्धरा के पार्थिव रूपमें कितना आकर्षण, कितनी सुन्दरता और छवि है, इसका यश हमारे श्रमशील लेखकोंकी लेखनीसे जब प्रवाहित होगा तब उसके सौरभसे हम विचलित हो उठेंगे। इस भूमिपर बसनेवाले पृथिवी पुत्रोंने अपनी समस्त शक्तिको कार्यरूपमें उतारकर दो सहस्रवर्ष तक और उससे भी अधिक लम्बे कालमें जो साधना की है, उसका अनुभव नवयुवकोंके हृदयोंमें जिस समय होगा, उस समय हमारी समारोह-भावनाका और अपने जयोदाहरणके अभिनन्दनका क्या रूप होगा, उसकी केवल कल्पनाकी जा सकती है।